

परंपरागत प्राकृत व्याकरण की समीक्षा

और

अर्धमागधी

डॉ. के. आर. चन्द्र

प्राकृत जैन विद्या विकास फंड  
अहमदाबाद

१९९५

# परंपरागत प्राकृत व्याकरण की समीक्षा

और

अर्धमागधी

डॉ. के. आर. चन्द्र  
भूतपूर्व अध्यक्ष  
प्राकृत-पालि विभाग  
भाषा साहित्य भवन  
गुजरात युनिवर्सिटी  
अहमदाबाद-३८००९

प्राकृत जैन विद्या विकास फंड  
अहमदाबाद  
१९९५

## प्रकाशक

डॉ. के. आर. चन्द्र  
मामद मंत्री  
प्राकृत जैन विद्या विकास फंड  
३७५ सरस्वती नगर  
अहमदाबाद-३८००१५

प्रत : ५००

ई. स. १९९५

मूल्य : रु. ५०-००

## मुद्रक

गायत्री लेबर प्रिन्टर्स  
४३/५ शंकर नगर  
नवा वाडज  
अहमदाबाद-३८००१३

## प्रकाशकीय

आनन्द का विषय है कि हमारी संस्था का ग्यारहवाँ ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। इस ग्रंथ का मुख्य विषय है परंपरागत प्राकृत भाषा के नियमों की समीक्षा और अर्धमागधी जैसी प्राचीन भाषा पर वे किस सीमा तक लागू होते हैं। आगे प्रस्तावना में इसे स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार के विद्याकीय कार्यों में पं. श्री दलसुखभाई मालवणिया और डॉ. श्री ह. चु. भायाणी का निरन्तर जो मार्गदर्शन और सहयोग मिलता रहा है, उसके लिए मैं और हमारी संस्था उनकी अत्यन्त आभारी हैं। डॉ. भायाणी ने इस पुस्तक के विषय में जो अभिप्राय लिखा है उसका भी हम आभार मानते हैं।

इस संस्था के उत्साही प्रमुख श्री बी. एम. बालर भी धन्यवाद के पात्र हैं जो संस्था के ऐसे कार्यों में हृदयपूर्वक सहयोग देते रहते हैं।

विगत वर्षों में श्रेष्ठी कस्तूरभाई लालभाई स्मारक निधि ने आर्थिक सहायता देकर हमारी संस्था को जो प्रोत्साहन दिया है उसका भी हम आभार मानते हैं।

इस संस्था में कार्य करने वाली कु. शोभना आर शाह भी उसके सहयोग के लिए हमारे धन्यवाद की पात्र है।

इस ग्रंथ के मुद्रण के लिए श्री पिताम्बरभाई जे. मिश्रा, गायत्री लेबर प्रिन्टर्स और मुद्रणालय के कार्यकर्ताओं का भी हम आभार मानते हैं।

अहमदाबाद

के. आर. चन्द्र

मानद मंत्री

## प्रस्तावना

परंपरागत प्राकृत व्याकरण का तात्पर्य है व्याकरण संबंधी जो नियम परंपरा से प्राप्त हुए हैं उनकी समीक्षा की गयी है। उपलब्ध प्राकृत साहित्य और प्राकृत शिलालेखों में भाषाका जो स्वरूप मिलता है उसको ध्यान में लेते हुए व्याकरण के अमुक्त नियमों की समीक्षा की गयी है कि वे कहाँ तक उनपर लागू होते हैं। क्या ये नियम सभी प्राकृत भाषाओं पर समान रूप से लागू होते हैं और अर्धमागधी जैसी प्राचीन भाषा के लिए ये नियम कहाँ तक उपयुक्त हैं यह भी चर्चा की गयी है। उदाहरण के तौर पर ध्वनिपरिवर्तन के नियम—

- (1) मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों का प्रायः लोप, दन्त्य नकार का णकार में परिवर्तन, मूर्धन्य ङकार का प्रयोग।
- (2) एक ही कारक की विभक्ति के लिए एक से अधिक प्रत्यय मिलते हैं। क्या वे विभिन्न काल की सभी प्राकृतों के लिए उपयुक्त हैं या नहीं। उनमें से कौन से प्राचीन प्राकृत भाषा के लिए और कौन से उत्तरवर्ती प्राकृत भाषा के लिए उपयुक्त ठहरते हैं।

प्राचीन प्राकृत और उत्तरवर्ती प्राकृत भाषाओं में क्या अन्तर था उसकी व्याकरण ग्रन्थों में विशद एवं विस्तार के साथ चर्चा नहीं की गयी है। क्षेत्रीय प्राकृतों को भी एक दूसरे से अलग करके उन्हें सूक्ष्म रूप में नहीं समझाया गया है।

कारण स्पष्ट है कि उस काल के व्याकरणकारों का उद्देश्य ही अलग था। उनका प्रयास भाषा का ऐतिहासिक या तुलनात्मक अध्ययन करने का नहीं था, यह तो आधुनिक काल की उपज है। प्राचीन व्याकरणकारों द्वारा तो उपलब्ध प्राकृत साहित्य की कृतियों की भाषाओं

का कुछ विशेष रूप समझाने के लिए व्यावहारिक दृष्टि से संस्कृत भाषा से उनकी विभिन्नता दर्शाने के हेतु से व्याकरण लिखे गये थे ।

इस समीक्षा में यह भी प्रयत्न किया गया है कि अर्धमागधी भाषा के व्याकरण की क्या क्या विशेषताएँ हो सकती हैं, उसके मुख्य लक्षण क्या हो सकते हैं । अध्याय नं. 14 में अर्धमागधी साहित्य के प्राचीन और उत्तरवर्ती रूप भी दिये गये हैं । अध्याय नं. 15 में विशेषावश्यक भाष्य के नये संस्करण के आधार से यह दर्शाया गया है कि ताडपत्रीय एक प्राचीन प्रति के मिल जाने से उसके पाठों में जो आमूल परिवर्तन आ गया वह अर्धमागधी आगम ग्रन्थों को भाषिक दृष्टि से पुनः सम्पादित करने के लिए एक दिशासूचन बन रहा है और प्राचीन पाठों के आधार पर उनका पुनः सम्पादन किया जाना चाहिए ।

के. आर. चन्द्र

## संदर्भ ग्रंथ संकेत

आगमोदय	आगमोदय समिति संस्करण
आचा.	आचारांगसूत्र
आल्सडर्फ	देखो Ludwig Alsdorf
काविल	E. B. Cowell, प्राकृत प्रकाश
गाइगर	W. Geiger : Pali Literature and Language
चू.	चूणि
डी. सी. सरकार	Select Inscriptions, Vol. I
नीति डोल्ची	The Prakrit Grammarians
पिशल	Comparative Grammar of Prakrit Languages
पुण्यत्रि.	मुनि पुण्यविजयजी
भ. ना. शा.	भरतनाट्यशास्त्र
मजैवि.	महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, संस्करण
मेहेडले	Historical Grammar of Inscriptional Prakrits
वररुचि	प्राकृत प्रकाश
शी.	शीलांकाचार्यकृतवृत्ति
सूत्रकृ.	सूत्रकृतांग
हेमचन्द्र	प्राकृत व्याकरण
Ludwig Alsdorf	Kleine Shrieften
Nitti Dolci	देखो नीति डोल्ची

## अनुक्रमणिका

अध्याय	शीर्षक	पृष्ठ
१.	भरतमुनि और प्राकृत भाषा की उत्पत्ति	१-८
२.	सामान्य प्राकृत भाषा में मध्यवर्ती त=द	९-१५
३.	प्राकृत में मध्यवर्ती प और व	१६-२१
४.	मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों का प्रायः लोप	२२-३१
५.	मध्यवर्ती उद्बृत्त स्वर के स्थान पर 'य' श्रुति की यथार्थता	३२-३७
६.	अनुनासिक व्यंजन ङ् और ञ् का अनुस्वार में परिवर्तन	३८-४२
७.	प्राचीन प्राकृत भाषा में आद्य नकार या णकार	४३-५०
८.	प्राचीन प्राकृत भाषा में मध्यवर्ती नकार	५१-६८
९.	प्राचीन प्राकृत भाषा में झ=न्न या ण्ण	६९-७५
१०.	प्राचीन प्राकृत भाषा में ण्य, न्न न्य और ण का न्न या ण्ण	७६-८१
११.	-स्सि और -ग्ग्हि सप्तमी एकवचन के प्राचीन विभक्ति प्रत्यय	८२-८७
१२.	कुछ अन्य विभक्ति-प्रत्यय	८८-११३
१३.	प्राकृत भाषाओं में मध्यवर्ती व्यंजन 'ळ'	११५-१२२
१४.	अर्धमागधी के दो स्वरूप : प्राचीन और उत्तरवर्ती	१२३-१२९



१५. मूल अर्धमागधी भाषा के यथा-स्थापन में विशेषावश्यक-भाष्य की जेसलमेरीय ताडपत्र की प्रति में भाषिक-दृष्टि से उपलब्ध प्राचीन पाठों द्वारा एक दिशा-सूचन	१३०-१४६
अक्षरों की प्राचीन लेखन-पद्धति और नकार में णकार के भ्रम की संभावना	१४७
कतिपय पूर्व-प्रकाशित इस ग्रंथ के अध्यायों के संदर्भ	१४८
संदर्भ-ग्रंथ	१४९
शुद्धि-पत्रक	१५१
हमारे प्रकाशन	१५२

## १. भरतमुनि और प्राकृत भाषा की उत्पत्ति

प्राकृत भाषा की उत्पत्ति के बारे में दो मत हैं, एक के अनुसार प्राकृत संस्कृत से जन्मी और दूसरे के अनुसार संस्कृत प्राकृत से जन्मी। इसी के बारे में यहाँ थोड़ी सी चर्चा की जा रही है।

वररुचि अपने प्राकृत व्याकरण में प्राकृत भाषा की उत्पत्ति के बारे में मौन हैं। चण्ड अपने प्राकृतलक्षणम् में कहते हैं—प्राकृत तीन प्रकार से सिद्ध-प्रसिद्ध है—

(१) संस्कृत योनिवाली अर्थात् तद्भव शब्द, (२) संस्कृतसमम् अर्थात् तत्सम शब्द और (३) देशीप्रसिद्धम् अर्थात् देश्य शब्द। इन तीन प्रकार के शब्दों से युक्त प्राकृत भाषा बतायी गयी है। उन्होंने इसकी उत्पत्ति के बारे में कुछ नहीं कहा है।

पू० आचार्य श्री हेमचन्द्र अपने प्राकृत व्याकरण में प्राकृत के विषय में कहते हैं—(१) तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्, (२)... संस्कृतयोनेरेव तस्य लक्षणम् और (३) न देश्यस्य (८.१.१)

अर्थात् ...

- (अ) देश्य के बारे में इधर कुछ नहीं कहा जा रहा है (३)।
- (ब) संस्कृत योनि वाले शब्दों के लक्षण दिये जा रहे हैं (२)।
- (स) इसमें जो शब्द (संस्कृत से) बने वे और इसमें (संस्कृत में) से जो आये अर्थात् तद्भव और तत्सम शब्द भी हैं (१)।

यहाँ तक तो उनकी परिभाषा चण्ड के समान ही लगती है परंतु जब उन्होंने यह कहा कि प्राकृत की प्रकृति संस्कृत है तब क्या समझना ?

**प्रकृति: संस्कृतम् (८.१.१)**

विद्वानों की एक परम्परा इसका अर्थ यह करती है कि प्रकृति शब्द

और योनि शब्द से यह तात्पर्य लिया जाय कि प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से हुई ।

यदि इस प्रकार मान भी लिया जाय तो वररुचि के प्राकृत व्याकरण में इस सम्बन्ध में अन्य प्राकृत भाषाओं के लिए जो कुछ कहा गया है उसका समाधान क्या होगा ?

‘प्राकृतप्रकाश’ के अध्याय १०, ११ और १२ में कहा गया है—

- (१) पैशाची १०.१, प्रकृति: शौरसेनी १०.२
- (२) मागधी ११.१, प्रकृति: शौरसेनी ११-२
- (३) शौरसेनी १२.१, प्रकृति: संस्कृतम् १२.२

इन सूत्रों के अनुसार ‘प्रकृति’ शब्द का अर्थ वही लिया जाय जो हेमचन्द्राचार्य के सूत्र के सम्बन्ध में लिया जाता है तो इसका अर्थ यह होगा कि संस्कृत में से उत्पन्न भाषा तो शौरसेनी है परंतु मागधी शौरसेनी में से उत्पन्न हुई और पैशाची भी शौरसेनी में से निकली ।

इन सबका पुनः यह अर्थ हुआ कि शौरसेनी भाषा मागधी और पैशाची की जनयित्री होने के कारण वह उनसे पूर्ववर्ती काल की भाषा है । ऐसा मानना प्राकृत भाषाओं के ऐतिहासिक विकास के क्रम की मान्यता के प्रतिकूल जाता है ।

जब शौरसेनी संस्कृत में से निकली तो प्राकृत (महाराष्ट्री) फिर किसमें से उत्पन्न हुई ?

इस सन्दर्भ में यही मानना योग्य और उचित लगता है कि भिन्न भिन्न प्राकृत भाषाओं के लक्षण समझाने के लिए, व्याकरणकारों द्वारा किसी एक को दूसरी भाषा का मात्र आधार बनाया गया है जहाँ पर उत्पत्ति-स्रोत या जन्म-योनि का सवाल नहीं है । किसी एक भाषा के लिए दूसरी भाषा

में क्या क्या प्रतिरूप (substitutes) हो सकते हैं उनका व्याकरण शास्त्र है न कि एक से दूसरी की उत्पत्ति का। यह तो मात्र समझाने के लिए एक पद्धति अपनायी गयी है जहाँ उत्पत्ति का सवाल ही नहीं है।

इस सम्बन्ध में भरतमुनि का मन्तव्य भी जानना अनुचित नहीं होगा।

उन्होंने प्राकृत की उत्पत्ति, प्रकृति या योनि के बारे में तो कुछ नहीं कहा है। वे लिखते हैं कि नाटकों में दो ही पाठ्य भाषायें हैं, एक संस्कृत और दूसरी प्राकृत (भ० ना० शा० १७.१)।

वे आगे कहते हैं कि प्राकृत संस्कारगुण से वर्जित होती है। उसमें समान शब्द (तत्सम), विभ्रष्ट (तद्भव) और देशी शब्द होते हैं। यह परिवर्तन (विपर्यस्त) युक्त होती है (१७.३)।

इस कथन के अनुसार एक भाषा संस्कारगुण वर्जित है (प्राकृत) अर्थात् दूसरी भाषा संस्कार गुण वाली है (संस्कृत)।

इससे यह प्रश्न उठता है कि जिसको संस्कारयुक्त बनाया गया, जिसे संस्कार दिया गया वह भाषा कौन सी ? उत्तर होगा जो संस्कार रहित थी उसे संस्कारयुक्त बनाया गया अर्थात् प्रकृति को यानि प्राकृत को सुसंस्कृत बनाया गया। तब कौन सी भाषा पहले और कौन सी बाद में। स्पष्ट है कि जो प्रकृति की भाषा, स्वाभाविक लोक-भाषा, जन-भाषा थी उसे ही संस्कार देकर सुसंस्कृत बनाया गया। यहाँ पर भाषा के किसी नाम विशेष से तात्पर्य नहीं है सिर्फ समझना इतना ही है कि असंस्कार वाली भाषा में से संस्कार वाली भाषा बनी।

संसार की सभी भाषाओं पर यही नियम लागू होता है। शिष्ट

भाषा का उद्भव किसी एक लोक-भाषा से ही होता है और बाद में दोनों में परस्पर आदान-प्रदान होता रहता है ।

यदि संस्कृत ही प्राकृत की योनि हो तो फिर जो नियम पू० हेमचन्द्राचार्य ने बनाये हैं वे उल्टे साबित नहीं होते हैं क्या ? उदाहरणार्थ:—

(१) सूत्र—८.३.१५८

वृत्ति...अकारस्य स्थाने एकारो वा भवति ।

जैसे—हसइ का हसेइ, सुणउ का सुणेउ ।

फिर आगे वृत्ति में कहा गया है कि—

‘क्वचिदात्वमपि’

अर्थात् कहीं-कहीं अ का आ हो जाता है:—

उदाहरणार्थ—सुणाउ (श्रुणातु)

इससे यह फलित होता है कि सुणउ से सुणाउ हुआ ।

वास्तव में तो संस्कृत में जो ‘आ’ है उसके स्थान पर ही प्राकृत में अ और ए प्रचलित था । श्रुणातु=सुणाउ, सुणउ, सुणेउ ।

यहाँ पर पू० हेमचन्द्र ने समझाने की जो पद्धति अपनायी है उससे संस्कृत को प्राकृत की योनि मानकर स्रोत के रूप में उसका अर्थ ले तो उचित नहीं ठहरता है ।

अतः प्रकृति शब्द से उनका तात्पर्य ‘जन्मदात्री’ नहीं है परन्तु समझाने के लिए यह तो एक ‘आधार’ ही माना जाना चाहिए ।

(२) शौरसेनी में थ का घ होने के लिए सूत्र उन्हें दिया है—

थो घः—८.४.२६७

फिर बाद में इह के ह और द्वि० पु० ब० व० के वर्तमान काल के प्रत्यय ह का घ होना बतलाया है ।

इह हचोः हस्य ८.४.२६८, उदाहरण—इघ, होघ

यह तो संस्कृत 'भवथ' का 'होघ' है अर्थात् थ का घ बना है। इसको संस्कृत से न समझाकर प्राकृत से ही समझाया है— अर्थात् संस्कृत में से प्राकृत की उत्पत्ति की उनकी मान्यता होती तो क्या वे ऐसा करते ?

(३) इह में से इघ हुआ हो यह भी सही नहीं है मूल तो इघ ही था उसमें से ही संस्कृत में इह बना है।

इस सन्दर्भ में पू० आ० श्री हेमचन्द्राचार्य द्वारा प्रयुक्त 'प्रकृति' शब्द का अर्थ यही होता है कि प्राकृत भाषा को समझाने के लिए (अर्थात् तद्भव अंश के लिए) संस्कृत का आश्रय लिया जा रहा है, उसे आधार मानकर समझाया जा रहा है, इससे अलग ऐसा अर्थ नहीं कि संस्कृत प्राकृत की जननी है या उसमें से उसकी उत्पत्ति हुई है।

दूसरी दृष्टि से प्रकृति और योनि शब्द का उपयोग इसलिए भी किया होगा कि उनके द्वारा प्राकृत के लिए कोई स्वतंत्र व्याकरण ग्रंथ नहीं लिखा जा रहा था। उनके सिद्धहेमशब्दानुशासनम् ग्रन्थ में संस्कृत का व्याकरण सात अध्यायों में समझाये जाने के बाद आठवें अध्याय में प्राकृत व्याकरण का विषय लिया जा रहा था। अतः क्रमपूर्वक संस्कृत के विद्वानों को "प्राकृत भाषा" संबंधी नियम दिये जा रहे थे इसीलिए संस्कृत भाषा को आधार बनाया गया और इस दृष्टि से ही योनि और प्रकृति शब्दों का उपयोग किया गया।

इसके अलावा भरतमुनि ने प्राकृत को नाटकों में संस्कृत के समान ही दर्जा दिया है। उनके द्वारा यह कहा गया है कि नाटकों में दो ही पाठ्य भाषाएँ होती हैं। उनमें से संस्कृत के बारे में तो कह दिया अब प्राकृत के बारे में कहता हूँ—

एवं तु संस्कृतं पाठ्यं मया प्रोक्तं रामासतः ।

प्राकृतस्य तु पाठ्यस्य संप्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ भ.ना.शा. १७.१  
जिसे अलग-अलग अवस्थाओं में अपनायी जानी चाहिए ।

विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकं । भ.ना.शा. १७.२  
यही प्राचीन स्थिति है जब संस्कृत के साथ प्राकृत भाषा को भी  
समान रूप में योग्य पद प्राप्त था ।

भरतमुनिने नाटकों में प्रयोज्य भाषा को संस्कार युक्त या  
संस्कार देने की जो बात कही है वह सिर्फ व्याकरणबद्ध करने  
की दृष्टि से कही है और इसी हेतु से उसके लिए नियम बनाये  
गये हैं । भविष्य में भी हरेक साहित्यिक भाषा के लिए ऐसी ही  
पद्धति अपनायी पड़ेगी ।

गद्यपद्यमय साहित्य जैसे कि ललित साहित्य, कथा साहित्य,  
काव्य साहित्य और अनेक शास्त्रीय ग्रंथों एवं नाटकों में जो प्राकृत  
भाषा मिलती है उसकी उत्पत्ति का कोई प्रश्न ही नहीं था और  
न कभी उसके पद या दर्जे का सवाल था । मूलतः यह तो  
तुलनात्मक दृष्टि से समझाने की बात थी अर्थात् एक भाषा  
के स्थान पर दूसरी भाषा के लिए कैसा दूसरा शब्द या कौन सा  
दूसरा रूप अर्थात् प्रतिरूप ( substitute ) अपनाया जाय उसी  
की एक कथा है, प्रथा है, पद्धति है या यों कहिए कि एक व्याकरण  
शास्त्र है ।

Therefore in the Nāṭyaśāstra there are instructions  
and guide-lines as regards the substitutes for stage-  
dialects that are to be assigned to various types of  
characters in dramas.

इन दो भाषाओं के आपसी सम्बन्ध को दृष्टान्तेन द्वारा भी

समझाया जा सकता है। एक भाषा बहती हुई महानदी के पानी के समान है जो स्थल स्थल पर और समय समय पर परिवर्तनशील होता रहता है, जिसमें छोटी छोटी नदियों से त्रिविध जगहों का पानी भी आता रहता है और उसका पानी कभी एक समान नहीं रहता है, बदलता रहता है, रंग भी बदलता है, अन्दर की सामग्री भी बदलती है और उसका स्वरूप बदलता रहता है। उसी बहते पानी में से एक नाले (चैनल) के द्वारा एक सरोवर के रूप में पानी एकत्रित करके उसोसंस्कार युक्त बनाया जाता है और बाद में वह अपना रूप नहीं बदलता है परंतु अधिक सुन्दर, शुद्ध और मनोहर भी होता है। समय समय पर और स्थल स्थल पर ऐसे जो सरोवर बनाये जाते रहते हैं वे व्याकरण साहित्यकी भाषाएँ बनती रहती हैं जबकि बहता हुआ पानी प्राकृत के रूप में चलता रहता है, बदलता रहता है, विकास (evolution) करता रहता है।

दोनों भाषाओं को समझाने के लिए एक दूसरा दृष्टान्त इस प्रकार दिया जा सकता है। एक राष्ट्र ऐसा जहाँ पर राजकुमारी ही राज्य करती है। अनेक बहिनों में से एक का चुनाव होता है। चुनाव के नियम हमेशा एक समान नहीं रहते, परिस्थिति और स्थल के अनुसार समय समय पर बदलते रहते हैं। अनेक बहिनों में से एक रानी बनती है और उसके राज्य के सभी लोग यहाँ तक कि उसकी बहिने भी उसकी प्रजा (यानि her subjects) कहलाती है। इसका अर्थ यह नहीं कि सारी प्रजा और उसकी बहिने उस रानी की पुत्रियाँ हैं या सन्ताने हैं।

जो पुत्री रानी बन गयी उसका रहन-सहन, पोशाक, खान—



पान, सजावट सब उच्च कोटि के रहते हैं । जबकि अन्य बहिनो' को ये सुविधाएँ नहीं मिलती हैं । रानी को हम संस्कार वाली भाषा कह सकते हैं जबकि उसकी बहिनो' को संस्कार वर्जित कह सकते हैं । यही संस्कृत और प्राकृत का सम्बन्ध है । अतः किसी भी बोल-चाल की (प्राकृतिक) भाषा का जन्म किसी भी संस्कार दी गयी भाषा से हो ही नहीं सकता । यदि कहना हो तो ऐसा कहो कि प्राकृतिक से संस्कारयुक्त वस्तु या भाषा बनती है ।

## २. सामान्य प्राकृत भाषा में मध्यवर्ती त=द

सामान्य प्राकृत भाषा के अन्तर्गत वररुचि के 'प्राकृत प्रकाश' (E.B. Cowell) में मध्यवर्ती त=द का उल्लेख तीन प्रकार से मिलता है ।

[१] नियम कोई अन्य है परन्तु उदाहरण के रूप में दिए गए शब्दों में त के स्थान पर द मिलता है ।

[२] कुछ शब्दों में त का द होता है ऐसा नियम दिया गया है ।

[३] विभक्ति और कृदन्त प्रत्ययों में त का द मिलता है परन्तु वर्तमानकाल के —ति,—ते, आज्ञार्थ—तु, हेत्वर्थक—तुं और सम्बन्धक भूतकृदन्त—तूण के स्थान पर कहीं पर भी उदाहरणों में या नियम में त के स्थान पर द नहीं मिलता है ।

### [१] उदाहरणों में—

सूत्र—उद्धृत्वादिषु-१.२९ अर्थात् ऋ का उ होने के उदाहरणों में उद्, विउदं, संवुदं, णिवुदं (ऋतुः, विवृतम्, संवृतम्, निवृतम्) ।

सूत्र—२.२—मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनो के लोप के उदाहरणों में—रअदं (रजतम्) ।

सर्वनामों में—सूत्र—६.२०—पं० ए० व० की विभक्ति के उदाहरण—एदाहि, एदादो, एदादु ।

सूत्र—६.२२—तदेतदोः सः साव नपुंसके—एदे, एदं ।

सूत्र—६.२६—युष्मद् के प्र० ए० व० के उदाहरणों में—तं आगदो, तुमं आगदो ।

सूत्र—६.२८—युष्मद् के प्र० व० व० के उदाहरणों में—तुञ्जे आगदा, तुम्हे आगदा ।

सूत्र—६.३५—युष्मद् के पंचमी ए० व० के उदाहरणों में—तत्तो आगदो, तुमाहि आगदो ।

सूत्र—६.३६—युष्मद् के पंचमी व० व० के उदाहरण में—तुम्हासुंतो आगदो ।

निपात के उदाहरण में—सूत्र—९.५—पेक्व इर तेण हदो ।

## [२] कुछ शब्दों में त का द होने का नियम—

सूत्र—२.७, ऋत्वादिषु तो दः

उदू, रअदं, आअदो, णिव्वुदी, आउदी, संवुदी, सुइदी, आइदी, हदो, संजदो, त्रिउदं, संजादो, संपदि और पडिव्वदी ।

(ऋतुः, रजतम्, आगतः, निवृत्तिः, आवृत्तिः, संवृत्तिः, सुकृतिः, आकृतिः, हतः, संयतः, त्रिवृत्तम्, संयातः, संप्रति और प्रतिपत्तिः )

सूत्र—६.३२—युष्मद् के षष्ठी एकवचन और तृतीया एकवचन का 'ते'='दे' होता है ।

ते कअं, दे कअं; ते घणं; दे घणं ।

## [३] कृदन्त प्रत्यय और विभक्ति—

[अ] सूत्र—४.२२, तद्धत्वयोर्दात्तणौ

[ यह भाववाचक प्रत्यय दा और त्तण का सूत्र है । ]

पीणदा, मूढदा (पीणत्तणं, मूढत्तणं)

[ब] सर्वनामों में पंचमी ए० व० की विभक्ति

सूत्र—६.९, त्तो दो डसे:

—कदो, जदो, तदो ।

सूत्र—६.१०, तद ओश्चः—तत्तो, तदो ।

सूत्र—६.२०,-त्तो डसेः—एदादो, एदादु, एदाहि ।

सूत्र—६.३५,-डसौ (तत्तो, तडत्तो) तुमादो, तुमादु, तुमाहि) ।

अर्थात् पंचमी एकवचन की विभक्ति—तो के बदले में—दो का और भाववाचक प्रत्यय—ता के बदले में—दा का स्पष्ट उल्लेख है ।

पू० आचार्य श्री हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अनुसार त का द शौरसेनी और मागधी भाषा में ही होता है । सामान्य प्राकृत के लिए वररुचि के सूत्र—२.७ का नियम उन्हें स्वीकार्य नहीं था इसीलिए उन्होंने उसका निषेध किया (सूत्र ८.१.२०९) है । वे कहते हैं—अत्र केचिद् ऋत्वादिषु द इत्यारब्धवन्तः स तु शौरसेनी मागधी-विषय एव दृश्यते इति नोच्यते । प्राकृते हि — ऋतुः=रिऊ; उऊ; रजतम्=रययं और जितने भी त=द वाले उदाहरण वररुचि के व्याकरण में मिलते हैं वे उनके द्वारा मध्यवर्ती त का लोप करके दिए गये हैं ।

उनके सूत्र नं० ८.३.८ में सर्वनामो की पं० ए० व० की विभक्ति में—दो और—दु का भी उल्लेख है ( डसेस् त्तोदोदुहिहित्तो लुकः) परन्तु वृत्ति में कह दिया कि 'दकार—करणं भाषान्तरार्थम्' अर्थात् दकार वाली विभक्ति अन्य भाषाओं में प्रयुक्त होती है ।

उन्होंने सामान्य प्राकृत में त = द का निषेध किया और अन्य भाषा में ऐसे प्रयोग मिलते हैं यह भी स्पष्ट किया । फिर भी उन्होंने अपने अन्य सूत्रों के अन्तर्गत त के द वाले प्रयोग क्यों दिए ? उनके बारे में ऐसी ही स्पष्टता क्यों नहीं की गयी ? यह सुस्पष्ट नहीं है । सूत्र नं० ८.१.३७ 'अतो डो विसर्गस्य' के उदाहरण में 'कुतः=कुदो' दिया गया है । जबकि त के द का निषेध बहुत बाद में आगे ८.१.२०९ सूत्र की वृत्ति में किया गया है । इसी प्रकार देखिए सूत्र नं० ८.२.१६० 'त्तो दो तसो वा' । सामान्य प्राकृत भाषा के लिए दिये गये

इस सूत्र की वृत्ति में सव्वदो, एकदो, अन्नदो, कदो, जदो और इदो के उदाहरण आते हैं जबकि सूत्र नं. ८.१.२०९ में पहले ही निषेध कर दिया गया था कि त का द प्राकृत में नहीं होता है। सूत्र. नं. ८.३.७१—किमः कस्त्र—तसोश्च—में भी कओ और क्तो के साथ कदो का भी उदाहरण है।

सूत्र नं. ८.३.६९ में एदिणा, एदेण के उदाहरण दिये गये हैं और ८.३.८ में पंचमी एक वचन के लिए—दो और—दु विभक्तियाँ दी गयी हैं जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

त के द का निषेध करते हुए इसी सूत्र [८.१.२०९] की वृत्ति में यह भी कह दिया कि [८.४.४४७ के अनुसार] कभो-कभी व्यत्यय भी होता है इसका अर्थ यह हुआ कि त का द नियमित नहीं परन्तु कभी कभी सामान्य प्राकृत में मिलता है। सूत्र नं० ८.१.१७७ की वृत्ति में भी कभी कभी क का ग और च का ज होना बतलाया गया है और वहां पर भी उन्हें 'व्यत्यय' (८.४.४४७) की कोटि में रखा गया है। तो क्या इसी सूत्र के अन्तर्गत त के क्वचित् द होने की चर्चा नहीं की जा सकती थी ?

भाषा-शास्त्र की दृष्टि से यह प्रवृत्ति तो अघोष व्यंजनों के घोष बनने की है जो लोप की प्रवृत्ति से पूर्ववर्ती मानी जाती है। इस पूर्ववर्ती प्रवृत्ति का प्रभाव ही परवर्ती भाषा पर क्वचित् मिलता हो या किसी अंश में उसका समावेश इधर किया गया हो ऐसा प्रतीत होता है।

क का ग, च का ज और त का द ये सब अघोष के घोष बनने की प्रक्रियावाले हैं जो महाराष्ट्री प्राकृत के पूर्व की कुछ प्राकृतों की लक्षणिकताएँ हैं। जब शौरसेनी और मागधी में त का द बनने का एक अलग सूत्र दे दिया और ८.४.४४७ में 'व्यत्यय' सर्वव्यापी बना दिया गया तो फिर सामान्य प्राकृत के लक्षण समझाते समय

त=द के उल्लेख की कया आवश्यकता थी और सामान्य प्राकृत में ही पं० ए० व० के विभक्ति प्रत्यय—दो और—दु देने की कया जरूरत थी। उनका उल्लेख शौरसेनी में ही उचित था जैसा कि उन्होंने उस भाषा में सं० भू० कृ० के लिए—दूण [८.४.२७१, २७२] और वर्त. काल तृ० पु० ए० व० के प्रत्यय—दि, —दे [८.४.२७३, २७४, २७५] का उल्लेख किया है तथा पंचमी ए० व० की विभक्ति—दो और—दु का भी उल्लेख [८.४.२७६] अलग से किया हा है।

त=द वाले सूत्रों और उदाहरणों का सामान्य प्राकृत में समावेश करके कया उन्होंने एक प्राचीन परम्परा का ही अनुसरण नहीं किया है? जिस प्रकार क=ग के प्रयोग अर्धमागधी में अधिक मिलते हैं उसी प्रकार त=द के प्रयोग भी अर्धमागधी में रहे होंगे। अतः सामान्य प्राकृत में क=ग की तरह त=द का भी समावेश [भले ही 'व्यत्यय' के नियम से] कर दिया गया है। अर्धमागधी में त=द के अघोष के घोष बनने के और वैसे ही थ=ध के जो प्रयोग बच पाए हैं उनमें से कुछ इस प्रकार दिए जा सकते हैं। इसिभासियाइं ग्रन्थ से :

भविद्वं [३.१]; पक्खिदा [३८.२३ पाठान्तर]

तधेव [२५. पृ. ५३.१४]; तधा [४५.२६]; कधं [२५ पृ० ५५.६]

जधा [४०. पृ. ९.१.१.; ४५.९.; २५ पृ० ५५.१३, १५, १८]

सव्वधा [३५.१२; ३८.२९; ४५.२५]

अर्धमागधी जैन—आगम—साहित्य की प्राचीन प्रतियों में और पाठान्तरों के रूप में भी मुद्रित ग्रंथों में ऐसे घोषीकरण के अनेक प्रयोग मिलते हैं। पू० जंबूविजयजी ने स्पष्ट कहा है कि मूल सूत्र एवं चूर्णों की प्रतियों में मिल रहे जधा और तधा के स्थान पर जहा और तहा पाठ लिये गए हैं [आचारांग, भूमिका, पृ० ४४, म० जै० वि० संस्करण]।

पालि भाषा में भी अत्र तत्र ऐसे घोषीकरण के कुछ प्रयोग मिलते हैं—

क ग—पटिगिच्च (दीघनिकाय, धम्मपद-अट्ठकथा)

मागन्दि (मज्झिम निकाय, जातकट्ठकथा)

प्रो. गाइगर ने (३८) ये उदाहरण नहीं दिए हैं ।

त=द—नित्यादेति (जातकट्ठकथा), पटियादेति (दीघनिकाय),

रुदं (जातकट्ठकथा, विदत्थि (धम्मपद-अट्ठकथा)

थ घ—गघित, ग्रथित) [देखिए गाइगर] ।

शिलालेखों में भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं । प्रो० मेहेण्डले (पृ० २७३) के अनुसार<sup>1</sup> ई० स० पूर्व तीसरी शती में उत्तर, उत्तर-पश्चिम और दक्षिण में, ई० स० पूर्व दूसरी शती में पूर्व और पश्चिम में और ई० स० पूर्व प्रथम शती में उत्तर—पश्चिम और मध्यक्षेत्र में त=द कभी कभी मिलता है । उसी प्रकार थ=घ प्रथम बार पूर्व और दक्षिण में ई० स० की दूसरी शती में और मध्यक्षेत्र में ई० स० पूर्व की प्रथम शती में मिलता है । डॉ. आल्सडर्फ के अनुसार तो घोषीकरण की प्रवृत्ति पूर्वी भारत से ही अन्य क्षेत्रों में फैली है ।<sup>2</sup>

जहाँ तक वररुचि का सवाल है उनके बारे में ऐसा कहना ही उचित होगा कि नाटकों में जो प्राकृत भाषा मिलती है उसमें त का द प्रचुर मात्रा में मिलता है अतः उन्होने त=द को अपनी प्राकृत में भी स्थान दिया होगा ।

उपसंहार के रूप में ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा कि प्राकृत की प्रारंभिक अथवा प्राचीन अवस्था में अमुक अमुक अव्यंजनों के लिए घोष व्यंजनों का प्रयोग होता था । परंतु

1. Historical Grammar of Inscriptional Prakrits, Poona, 1948

2. Kleine Schriften, p 451 (1974 A D )

हेमचंद्राचार्य ने जब इस प्रवृत्ति का अर्थात् त=द का निषेध कर दिया तब प्राचीन प्रतों में मिलने वाले ऐसे त=द के प्रयोग प्राचीन प्राकृत में से निकल गए। श्रीमती नीति डोलवी की यही मान्यता<sup>3</sup> रही है। अर्धमागधी जैसी प्राचीन भाषा में से भी ऐसे प्रयोग निकल गये होंगे ऐसा मानना यहाँ पर अर्धमागधी आगम साहित्य<sup>4</sup> के विद्वानों के लिए अनुचित नहीं होगा।

3. I rather believe that Hemacandra is responsible for normalization of the treatment of intervocalic -t- in posterior Mss.—Vide The Prakrit Grammarians, p. 159, f. n. 4 (1972).

4. आचाराङ्ग की प्रतों में से पाठान्तर के रूप में त=द वाले प्रयोग :-अग्घादि (खं, खे, सं, जै), अम्खादि (इ०) 1 6.1.177; चेदेमि (शीखं) 1.8 2, 204; चेदेमि (खे, सं) 1 8.2 204; समुस्सिणादि (चू०) 1.8 2 205; उववादं (चू०) 1.8.3.209; विमोहायदणं (खं) 1.8.7.228, [परपादे (खे, खं, सं, जै.) 1.9. 1.272; पादं (खे, खं, जै, इ, हे १, २, ३) 2.6.1.588, 590 इत्यादि, इत्यादि पात्र के स्थान पर पाठान्तर के रूप में पाद कितनी ही बार प्रयुक्त] पाणादिवातातो (खे, खं, जै) 2 15 779

ध्यान देने की बात यह है कि आचार्य हेमचन्द्र ने त=द का निषेध करते हुए ऋतु के लिए उउ शब्द (८.१.२०९) दिया है (वररुचि उदु शब्द देते हैं) परंतु स्वयं आचाराङ्ग में ही 'उदु' शब्द का प्रयोग मिल रहा है—उदुसंघीसु, उदुपरियट्टेसु औ (पाठ = तर-उदुएसु-खे, खं; उदुसु चू०) 2 1.2.335.



## ३. प्राकृत में मध्यवर्ती प और व

प्राकृत व्याकरणकारों ने मध्यवर्ती पकार और वकार के सम्बन्ध में ध्वनि-परिवर्तन के जो नियम दिये हैं वे शिलालेखों और साहित्य की भाषा में कहाँ तक औचित्य रखते हैं उसी का यहाँ अध्ययन किया जा रहा है । इस विश्लेषणात्मक अध्ययन से स्पष्ट होगा कि साहित्य और व्याकरण में कितना अन्तर है ।

मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों (टवर्ग के सिवाय) के प्रायः लोप के विषय में हेमचन्द्राचार्य का सूत्र इस प्रकार है :—

**कगचजतदपयवां प्रायो लुक् (८.१.१७७)**

इस सूत्र से स्पष्ट है कि अन्य अल्पप्राण व्यंजनों की तरह पकार का भी प्रायः लोप होता है ।

इस सूत्र के पश्चात् अन्य स्थल पर पकार के विषय में जो सूत्र दिया गया है वह इस प्रकार है—

पो वः (८.१.२३१)

इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है कि पकार का प्रायः वकार होता है । सूत्र की वृत्ति इस प्रकार है—

**स्वरात्परस्यासंयुक्तस्यान.देः पस्य प्राय वो भवति ।**

ये दोनों सूत्र क्या एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं ? इन दोनों का समाधान वृत्ति में इस प्रकार किया गया है—

**एतेन पकारस्य प्राप्तयोर्लोपवकारयोर्यस्मिन्कृते श्रुतिसुख-मुत्पद्यते स तत्र कार्यः ।**

अर्थात् श्रुतिसुखानुसार लोप या व किया जा सकता है । इसका अर्थ तो यह हुआ कि दोनों सूत्रों में जिस प्रायः शब्द का

उपयोग किया गया है वह निरर्थक बन जाता है। व्याकरणकार क्या एक तरफ परंपरा का अनुसरण कर रहे हैं और दूसरी तरफ उसी में संशोधन कर रहे हैं क्या ? इन विधानों में स्पष्टता का अभाव दृष्टिगोचर हुए बिना नहीं रहता।

वररुचि के व्याकरण में भी यही दोष नजर आता है। उनके प्राकृत-प्रकाश में पहले प्रायः लोप और पुनः प्रायः वृ होने का आदेश है। वृत्ति में फिर कहा गया है—जहां पर लोप नहीं हो वहां पर वृ बन जाता है—

**कगचजतदपयवां प्रायो लोपः (२.२)**

**पो वः (२.१५)**

**वृत्तिः—प्रायोग्रहणाद्यत्र लोपो न भवति तत्रायं विधिः।**

त्रिविक्रम अपने प्राकृतशब्दानुशासनम् में हेमचन्द्र का ही शब्दशः अनुसरण करते हैं। (देखिए—सूत्र १.३.८, १.३.९ और १.३.५५ एवं अन्तिम सूत्र की वृत्ति)।

मार्कण्डेय भी अपने प्राकृतसर्वस्व में (सूत्र नं० २.२ और २.१४) ऐसा ही विधान करते हैं। उन्होंने हेमचंद्र और वररुचि की तरह कोई समाधान नहीं किया है।

इस दृष्टि से भरतनाट्यशास्त्र का विधान कुछ अलग सा लगता है। उन्होंने अन्य मध्यवर्ती व्यंजनों के साथ में पकार का लोप नहीं रखा है परन्तु लोप के बदले में पकार के वकार में बदलने की बात अलग से उदाहरण देकर कही है। लोप के सूत्र में प का उल्लेख ही नहीं है—

**वच्चन्ति कगतदयवा लोपमत्थं च से वहन्ति सरा (१७.७)**

फिर पकार के लिए अलग से सूचित किया है कि—

## आपाणमावाणं भवति पकारेण वत्वयुक्तेन १७.१४)

व्याकरणकारों के इन परस्पर विरोधी विधानों एवं भरतमुनि के आदेश को ध्यान में लेते हुए क्या ऐसा नहीं हो सकता था कि प्रायः लोप का जो सूत्र है उसमें पकार का समावेश नहीं करके उसके लिए ऐसा विधान बनाते कि पकार का लोप या उसका वकार वैकल्पिक है। शिलालेखीय एवं साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर ऐसा नियम बनाना भी उचित नहीं ठहरता है। मेहेण्डले द्वारा किये गये अध्ययन का सार यह है कि शिलालेखों में मध्यवर्ती पकार का अधिकतर वकार पाया जाता है (देखिए पृ० २७३ से २७५)। पिशल महोदय (१८६) के अनुसार भी मध्यवर्ती पकार का लोप कभी कभी ही होता है। साहित्यिक उदाहरण भी यह तथ्य स्पष्ट करते हैं। विविध ग्रंथों की भाषा का विश्लेषण यहाँ पर उदाहरण के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है—

### (अ) साहित्य में मध्यवर्ती पकार लोप या वकार

(ग्रन्थ का नाम)	यथावत्	व	लोप	वकार %
(i) सेतुबन्धम्, आश्वास २	१	२५	५	८०
(ii) गाथासप्तशती शतक ३ १ से ५० गाथा	०	३४	३	९२
(iii) स्वप्नवासवदत्तम् अंक १, २, ३	९	२६	८	७४
(iv) इसिभासियाइं अध्याय २९, वर्द्धमान	०	२३	०	१००
अध्याय ३१, पार्श्व	१	११	०	९१

(v) उत्तराध्ययन, अ. १३ [शापेंण्टियर एवं पुण्यविजयजी के संस्करणानुसार]

(आल्सडर्फ के अनुसार नौ

प्राचीन पद्यों का विश्लेषण) १ १३ ० ९३

(vi) विशेषावश्यक भाष्य २ ७३ ० ९७

(१०१ से २०० गाथाएँ)

(vii) पञ्जोसवणा (कल्पसूत्र

२३२ से २६१ संपा. पुण्यत्रि. १२ ७३ ३ ८३

(viii) बृहत् कल्पसूत्र, १७ ४५ ० ७२

अ. १ (घासीलालजी)

(ix) सूत्रकृ० इथीपरिन्ना

(क) आल्सडर्फ संस्करण १ ३२ ० ९७

(ख) म० जै० विद्यालय २ २९ ० ९४

(x) पणवणासूत्र (सूत्र नं. ३ २० ० ८७

१ - ७४, १३९ - १४७)

(xi) षट्खण्डागम सू. १.१-८१ ३ १९ ३ ७६

(ब) व के लोप का स्थिति

मध्यवर्ती वकार का प्रायः लोप होता है ऐसा नियम दिया गया है वह भी उचित नहीं लगता है। पिशल महोदय (१८६) के अनुसार कभी कभी ही लोप होता है। मेहेण्डले के अनुसार (पृ० २७४-२७५) शिलालेखों में मध्यवर्ती वकार का लोप क्वचित् ही होता है।

साहित्य में व का लोप

	लोप	यथावत्	प्रतिशत यथावत्
(i) स्वप्नवासवदत्तम् (अंक १, २, ३)	०	४६	१००
(ii) गाथासप्तशती (३.१-५०)	१०	१२	५५
(iii) सेतुबन्धम् (सर्ग २.१ से ४६)	१५	३७	६१

स्वप्नवासवदत्तम् जैसी प्राचीन कृति में व का लोप नहीं मिलता है । परन्तु परवर्ती महाराष्ट्री प्राकृत कृतियों गाथासप्तशती और सेतुबन्ध में व का लोप मिल रहा है । क्या इसी कारण वररुचि को व के लोप का सूत्र में उल्लेख करना पड़ा और परवर्ती सम्पादकों पर वररुचि का प्रभाव पड़ा । नीचे दिये जा रहे अर्धमागधी और शौरसेनी के प्राचीन ग्रन्थों की भाषा का विश्लेषण भी यही साबित करता है कि उनमें वकार का प्रायः लोप नहीं मिल रहा है ।

लोप यथावत् प्रतिशत यथावत्

(iv) इसिभासियाई			
(क) अ० २९ वर्धमान	०	१४	१००
(ख) अ० ३१ पार्व	०	५०	१००
(v) सूत्रक० इत्थीपरिन्ना			
(क) आल्सडर्फ	०	२७	१००
(ख) जंबूविजयजी	०	२९	१००
(vi) उत्तराध्ययन, अ. १३	०	७	१००
(vii) पणवणासूत्र			
(१ से ७४, १३९ से १४७)	०	५३	१००
(viii) षट् खण्डागम अ० १.१-८१	५	७५	९४
(ix) बृहत्कल्पसूत्र अ. १(घासीला.)	२	२०	९१
(x) विशेषाव. भाष्य १०१-२००	८	७५	९१
(xi) पज्जोसवणासूत्र २३२-२६१	७	६८	९१

साहित्य में उपलब्ध प्रयोगों से स्पष्ट हो रहा है कि मध्यवर्ती प्रकार का प्रायः लोप नहीं मिलता है । उसका मुख्यतः वकार ही होता है । जैन और जैनेतर दोनों ही साहित्य में कम से कम ७२

प्रतिशत और अधिक से अधिक ९१ से १०० प्रतिशत प का व मिलता है । तब फिर व्याकरणकारों ने मध्यवर्ती पकार के विषय में प्रायः लोप का नियम कैसे बनाया होगा ।

मध्यवर्ती वकार के प्रायः लोप का नियम तो बिलकुल उचित नहीं ठहरता है ।

कहना पड़ेगा कि पकार और वकार के विषय में प्राकृत व्याकरणकारों के नियम शिलालेखीय एवं साहित्यिक प्रमाणों के विपरीत जाते हैं । कम से कम प्राचीनतम साहित्य की प्राकृत भाषा पर यह नियम लागू नहीं होता है अतः अर्धमागधी भाषा पर भी ये नियम लागू नहीं होते हैं ।

## ४. मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों का प्रायः लोप

वररुचि और हेमचन्द्र दोनों ही व्याकरणकार मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों के बारे में एकमत हैं । उनके सूत्रों के अनुसार क,ग,च,ज, त,द,प,य और व का प्रायः लोप होता है ।

वररुचि का सूत्र है—

**कगचजतदपयवां प्रायो लोपः (२.२) ।**

हेमचन्द्र का सूत्र है—

**कगचजतदपयवां प्रायो लुक् (४.१.१७७) ।**

इसके साथ-साथ प का प्रायः व भी होता है ऐसा सूत्र भी दोनों ने दिया है—

**पो वः (२.१५); वकारादेशो भवति—मामह ।**

**पो वः (८.१.२३१); पस्य प्रायो वो भवति—(हेमचन्द्र की वृत्ति)**  
शौरसेनी और मागधी में त और थ के लिए घोषीकरण का नियम दिया गया है—

**तकारस्य दकारो भवति, थस्य धो वा भवति ।**

(हेम. सूत्र—८.४.२६०, २६७) ।

**तथयौर्दधौ (वररुचि—१२.३)**

वररुचि ने तो सामान्य प्राकृत में भी त का द होता है ऐसा नियम और उदाहरण भी दिये हैं जबकि हेमचन्द्र इसे सामान्य प्राकृत में मान्य नहीं रखते हैं ।

**ऋत्वादिषु तो दः । (वररुचि—२.७) ।**

हेमचन्द्र का मत है कि—

**केचिद् ऋत्वादिषु द इत्यारब्धवन्तः स तु शौरसेनी-  
मागधीविषय एव दृश्यते इति नोच्यते—वृत्ति (८.१.२०९) ।**

आ. हेमचन्द्र ने लोप के नियम के अन्तर्गत कहीं कहीं पर च का ज और क का ग होना भी अर्थात् अघोष व्यंजनों का घोष होना भी सामान्य प्राकृत में ही बतलाया है ।

प्राकृत भाषा के प्रारम्भिक काल में मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों के प्रायः लोप की प्रवृत्ति नियमित नहीं हो सकती जैसा कि दोनों व्याकरणकार समझते हैं । 'भरत नाट्य-शास्त्र' के अनुसार भी क, ग, त, द, य और व का ही लोप बतलाया गया है—

**वच्चन्ति कगतदयवा लोपम् (१७.७) ।**

इनमें च, ज और प का समावेश नहीं होता है परन्तु प का व में बदलने का अलग से उदाहरण दिया गया है—

**आपाणमावाणं भवति पकारेण वत्वश्रुक्तेन । (१७.१४) ।**

बाद में च के बदले में य (य श्रुति) होने के भी उदाहरण दिये गये हैं—

**प्रचलाचिराचलादिषु भवति चकारोपि तु यकारः (१७.१४)**

मध्यवर्ती ज के लोप का उल्लेख ही नहीं है । वररुचि और हेमचन्द्र द्वारा आदिष्ट सभी अल्पप्राण व्यंजनों का लोप प्रायः होता हो ऐसा 'भरत नाट्य-शास्त्र' से फलित नहीं होता है ।

इसी सन्दर्भ में चण्ड के 'प्राकृत लक्षणम्' का मत जानना भी उपयोगी होगा । उनके सूत्र इस प्रकार हैं—

**प्रथमद्वितीययोर्द्वितीयचतुर्थो (३.११) ।**

**प्रथमस्य तृतीयः (३.१२) ।**



अर्थात् अल्पप्राण का महाप्राण और अघोष का घोष होता है ।  
इन सूत्रों के पश्चात् फिर कहा गया है—

**कतृतीययोः स्वरे (३.३६) ।**

अर्थात् मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों का लोप होता है ।

चण्ड ने पहले महाप्राण और घोष बनने की बात कही और तत्पश्चात् लोप के बारे में कहा । हेमचन्द्र और वररुचिने पहले लोप की बात कही फिर घोष बनने की बात कही । व्याकरणकारों के इन अलग अलग प्रकार के नियमों और उनके क्रम में एकरूपता न होने से फलित होता है कि सभी अल्पप्राण व्यंजनों का लोप एक साथ नहीं किन्तु धीरे-धीरे क्रमशः प्रचलन में आया होगा । सर्वप्रथम तो घोषीकरण की सामान्य प्रवृत्ति थी । नीति डोलची भी इसी मत की पुष्टि करती है ।<sup>1</sup>

मागधी और शौरसेनी प्राकृत भाषाएँ महाराष्ट्री प्राकृत से पूर्ववर्ती अवस्था की भाषाएँ हैं अतः उनमें (त, थ = द, घ के सिवाय) अल्पप्राण व्यंजनों का प्रायः लोप होना कहां तक उचित माना जाना चाहिए । पैशाची प्राकृत भी महाराष्ट्री से पूर्वकाल की भाषा है । उसमें अल्पप्राण व्यंजनों का लोप नहीं है । उसी प्रकार मागधी और शौरसेनी में प्रायः लोप वाला नियम प्राकृत भाषाओं के ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से उचित नहीं ठहरता ।

वररुचि के अनुसार तो मध्यवर्ती त का द प्राकृत में ही होता था परन्तु हेमचन्द्र ने इसका निषेध करके त के लोप को भी सामान्य<sup>2</sup> बना दिया जैसा कि ऊपर उल्लेख हो चुका है ।

**शिलालेखों में घोष और लोप की स्थिति**

मेहेण्डले द्वारा किये गये शिलालेखीय भाषा के विश्लेषण के

अनुसार अघोष व्यंजनों का घोष ई० स० के पहले से ही (अशोक के समय से ही) प्रारम्भ हो जाता है जबकि उनका लोप ई० स० के पश्चात् गति पकड़ता है। सभी अल्पप्राण व्यंजनों का लोप एक साथ प्रारम्भ नहीं होता है परन्तु समय की गति के साथ बढ़ता है। व्यंजनों के लोप की पूर्वापरता को ध्यान में रखा जाय तो सबसे पहले मध्यवर्ती य, व और द का लोप होता है। उसके पश्चात् ज, प, क, च और त का, उसके बाद ग की बारी आती है। इन सब में पहले य श्रुति को स्थान मिलता है जबकि उद्वृत्त स्वर का यथावत् रहना अर्थात् शुद्ध लोप की प्रवृत्ति परवर्ती हो ऐसा प्रमाणित होता है (देखिए, मेहेण्डले, पृ २७१-२७४)।

शिलालेखीय भाषा में ध्वनि-परिवर्तन (मध्यवर्ती व्यंजनों के घोष, अघोष और लोप) का चित्र इस प्रकार है।

### घोषीकरण

- (i) क का ग : ई.स. पूर्व तीसरी शताब्दी में पूर्वी क्षेत्र से फैला  
 च का ज : ई.स. पूर्व तीसरी शताब्दी में पूर्वी क्षेत्र से फैला  
 प का व : ई.स. पूर्व तीसरी शताब्दी में पूर्व और दक्षिण से फैला।  
 त का द<sup>३</sup> : ई.स. पूर्व तीसरी शताब्दी में उत्तर—पश्चिम और उत्तर से फैला।
- (ii) थ का घ : ई.स. पूर्व दूसरी शताब्दी में पूर्वी क्षेत्र से फैला  
 ख का ष : ई.स. पूर्व प्रथम शताब्दी में मध्यक्षेत्र से फैला।

घोषीकरण की प्रवृत्ति स्पष्ट तौर से ई०स० के पूर्व ही प्रारम्भ हो जाती है और वह भी पूर्वी क्षेत्र से ही अन्य क्षेत्रों में फैलती है अर्थात् मागधी भाषा का जो प्रदेश माना जाता है वहीं से प्रारम्भ होती है और अन्य क्षेत्रों में फैलती है ।

**शिलालेखों में य श्रुति** इस प्रकार मिलती है ।

क की :	तीसरी शती ई०स० पूर्व	पूर्वी क्षेत्र में
	पहली शती ई०स० पूर्व	पश्चिम में
	दूसरी शती ई०स० पूर्व	दक्षिण में
ग की :	(i) तीसरी शती ई०स० पूर्व	पूर्व, पश्चिम, उत्तर-पश्चिम
	(ii) प्रथम शताब्दी ई०स० से	यह प्रवृत्ति बन्द ।
च की :	पहली शती ई०स० पूर्व	उत्तर—पश्चिम में
	पहली शती ई०स०	मध्य क्षेत्र व दक्षिण में
ज की :	तीसरी शती ई०स० पूर्व	उत्तर—पश्चिम में
	दूसरी शती ई०स० पूर्व	पश्चिम में
त की :	दूसरी शती ई०स० पूर्व	मध्य क्षेत्र में
	पहली शती ई०स० पूर्व	पश्चिम में
द की :	दूसरी शती ई०स० पूर्व	पश्चिम में
	पहली शती ई०स० पूर्व	मध्य क्षेत्र में
	पहली शती ई०स० पूर्व	दक्षिण में

अर्थात् य श्रुति इस प्रकार मिलती है :—

- (i) क, ग, ज की तीसरी शती ई०स० पूर्व से ।
- (ii) त, द की दूसरी शती ई०स० पूर्व से ।
- (iii) च की पहली शती ई०स० पूर्व से ।

मध्यवर्ती व्यंजनों के लोप की प्रवृत्ति (उद्बृत्त स्वर को यथावत्

रखना) ई०स० के पश्चात् ही बल पकड़ती है और वह भी पूर्वाक्षेत्र में नहीं, परन्तु अन्य क्षेत्रों (उत्तर-पश्चिम, पश्चिम और दक्षिण) में पायी जाती है जिसका विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है—

### मध्यवर्ती व्यंजनों के लोप की प्रवृत्ति का प्रसार

- (i) य का ई०स० पूर्व तीसरी शताब्दी में उत्तर-पश्चिम से अन्य जगह ।
- (ii) व ई०स० पूर्व तीसरी शताब्दी में पश्चिम से अन्य जगह
- (iii) द का ई०स० पूर्व २५० में पश्चिम से अन्य जगह
- (iv) ज का ई०स० पूर्व दूसरी शताब्दी में पश्चिम से अन्य जगह
- (v) प का ई०स० पूर्व प्रथम शताब्दी में उत्तर-पश्चिम से अन्य जगह ।
- (vi) क का ई०स० प्रथम शताब्दी में पश्चिम, उत्तर-पश्चिम और दक्षिण से अन्य जगह ।
- (vii) च का ई०स० प्रथम शताब्दी में उत्तर-पश्चिम, दक्षिण और मध्य क्षेत्र से अन्य जगह ।
- (viii) त का ई०स० प्रथम शताब्दी में पश्चिम से अन्य जगह
- (ix) ग का ई०स० दूसरी शताब्दी में उत्तर-पश्चिम से अन्य जगह ।

मेहेण्डले ने अपने उपसंहारों में मध्यवर्ती घ और भ के स्थान पर ह बनने के बारे में कुछ भी नहीं कहा है (पृ० २७१-२७४)। मात्र धातु √भू का 'हो' बनना और तृतीय पुरुष ब० व० की निभक्ति मि का सर्वत्र —हि मिलना—इन्हीं प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है । अर्थात् अन्य स्थिति में मध्यवर्ती घ और भ का ह में परिवर्तन होने का उल्लेख करने योग्य सामग्री नही है ।

शिलालेखीय भाषा के इस विश्लेषण से यही प्रमाणित हो रहा है कि मध्यवर्ती व्यंजनों का घोषीकरण प्राचीन है जबकि लोप उसके बाद की प्रवृत्ति है। लोप की प्रवृत्ति का प्रचलन उत्तर-पश्चिम और पश्चिम (अर्थात् विन्ध्य का दक्षिणी भाग भी) में सबसे पहले हुआ और पंजाब, कलवान तथा तक्षशिला के प्रथम शताब्दी के शिलालेखों में तो मध्यवर्ती व्यंजनों का लोप ३० से ३४ प्रतिशत मिलता है।<sup>14</sup>

शारिपुत्र-प्रकरणम् की तुलना में स्वप्नवासवदत्तम्, विक्रमोर्वशीयम् और मृच्छकटिकम्—इन विभिन्न काल के तीन नाटकों में मध्यवर्ती व्यंजनों के घोष बनने की और फिर लोप होने की प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ती ही जाती है।<sup>15</sup>

आचारांग (म.जै.त्रि. संस्करण) के प्रथम अध्ययन की भाषा के ध्वन्यात्मक परिवर्तन संबंधी विश्लेषण से पता चलता है कि उसमें मध्यवर्ती ग यथावत् मिलता है, क का लोप मात्र ३५% है और घोषीकरण ६५% है, द का लोप मात्र २०% है, त का लोप भी ३०% है और प का प्रायः व मिलता है।

पउमचरियं में मध्यवर्ती प का लोप ७% और प का व ७५% मिलता है। वसुदेवहिंडी में प का व ७१% और लोप ०% मिलता है।

आल्सडर्फ द्वारा सम्पादित सूत्रकृतांग के इथीपरिन्ना<sup>16</sup> नामक अध्याय में क का लोप मात्र २२% ही है और क का ग ६५% मिलता है। इसमें मध्यवर्ती ग का लोप १३½/० मिलता है। प का व में परिवर्तन ९५% मिलता है और व का लोप मात्र २½% मिलता है।

ऐसी अवस्था में व्याकरणकारों का प्रायः लोप का नियम किस प्रकार लागू होगा? कम से कम प्राचीन ग्रन्थों की भाषा पर यह

नियम लागू नहीं किया जा सकता है। अतः व्याकरणकारों द्वारा आदिष्ट (मध्यवर्ती व्यंजनों के लोप एवं घोषीकरण के) नियमों में एक-रूपता के अभाव से तथा शिलालेखीय प्रमाणों से (कि प्रारम्भ में घोषीकरण और तत्पश्चात् लोप की प्रवृत्ति का विकास हुआ) और प्राचीन साहित्य एवं नाटकों की भाषा इन सभी प्रकार के आधारों से ई०स० पूर्व की तीसरी शताब्दी से प्रथम शताब्दी ई०स० पूर्व तक की प्राकृत भाषा का क्या स्वरूप रहा होगा यह जाना जा सकता है। ऐसी अवस्था में अर्धमागधी आगमों के उन अंशों का जो प्राचीन माने गये हैं, ग्राकोबी महोदय ने तीसरी शताब्दी ई०स० पूर्व से पश्चात् कालीन नहीं माना है—उन उन अंशों में मध्यवर्ती व्यंजनों का प्रायः लोप कहाँ तक उचित माना जाएगा? अतः ऐसे अंशों का सम्पादन उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्राकृत भाषा के प्राचीन भाषाकीय तत्त्वों का तारतम्य ध्यान में रखकर किया जाना अनिवार्य बन जाता है। इस तथ्य (अर्थात् मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों का प्रायः लोप प्राचीन प्राकृत साहित्य में उचित नहीं ठहरता) की पुष्टि उत्तराध्ययन के १३वें अध्याय की उन गाथाओं से भी होती है जिन्हें आल्सडर्फ ने प्राचीनतम<sup>7</sup> बताया है। ये गाथाएँ इस प्रकार हैं— ६, १०, ११, १२, १५, १८, २६, २७ और ३०। इन नौ गाथाओं का भाषाकीय विश्लेषण इस प्रकार है—(इनमें मध्यवर्ती त और द के परिवर्तन को छोड़ दिया गया है)।

शापेंण्टियर संस्करण				पुण्यविजयजी संस्करण		
	यथावत्	घोष	लोप	यथावत्	घोष	लोप
क	१	४	२	१	४	१
ग	९	०	१	१०	०	०

ज	३	०	४	३	०	४
प	१	१३	०	१	१३	०
य	४	०	०	५	०	०
व	७	०	०	६	०	०
	२५	१७	७	२६	१७	५
	कुल लोप १४%			कुल लोप १०½०/०		

- (i) क का घोष अधिक  
(ii) ग का लोप अल्प  
(iii) प का लोप नहीं  
परंतु व में परिवर्तन  
(iv) व का लोप नहीं

- क का घोष अधिक  
ग का लोप बिल्कुल नहीं  
प का लोप नहीं परंतु व  
में परिवर्तन  
व का लोप नहीं

इसी विश्लेषण को अन्य प्रकार से यहाँ पर प्रस्तुत किया जाता है (प्रतिशत के रूप में)—

	लोप	घोष	यथावत्
क	२८	५७	१५
ग	११	—	८९
ज	५७	—	४३
प	०	९३	७
य	०	—	१००
व	०	—	१००

ध्वनि-परिवर्तन की इस स्थिति को देखते हुए, प्राकृत साहित्य के प्राचीनतम माने जाने वाले अंशों की भाषा पर वररुचि और

हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरणों के प्रायः लोप के नियम लागू नहीं होते हैं। इस दृष्टि से अर्धमागधी आगम ग्रन्थों का पुनः सम्पादन अनिवार्य सा बन जाता है।

1. The Prakrit Grammarians, L. Nitti, Dolci, p. 210, Motilal Banarasidas, 1972
2. Ibid, p. 159
3. आल्सडॉर्फ के अनुतार (मेहेण्डले के निष्कर्ष का निराकरण करते हुए) अघोष का घोष बनना जिसमें त=द का भी समावेश होता है यह पूर्वी क्षेत्र की ही विशेषता रही है—Kleine Schriften, p. 451, Wiesbaden (1974, A.D.).
4. देखिए आगे—“विशेषावश्यक भाष्य के पाठान्तरों, उत्कीर्ण प्राचीन अभिलेखों और इतिमासियाह की भाषा के परिप्रेक्ष्य में प्राचीन आगम ग्रन्थों का सम्पादन”
5. देखिए मेरा लेख—“Study of Prakrits in Classical Dramas : Their Stages in Some Early Dramas”, Vidya, Guj. Univ., Aug. 1980, pp. 45—60
6. Ludwig Alsdorf : Kleine Schriften, 1974 A.D., pp. 197—200
7. Ibid. pp. 186—192



## ५. मध्यवर्ती उद्वृत्त स्वर के स्थान पर 'य' श्रुति की यथार्थता

आचार्य श्री हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में ऐसा नियम दिया है कि मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों का लोप होने पर 'अ' और 'आ' शेष रहने पर यदि वे 'अ' और 'आ' के बाद में आये हो तो और कभी कभी अन्य स्वरों के बाद आये हो तो भी उन 'अ' और 'आ' की लघु प्रयत्न के कारण 'य' श्रुति हो जाती है ।

उनका सूत्र और वृत्ति इस प्रकार है—

अवर्णो य श्रुतिः ८.१.१८०

कगचजेत्यादिना लुकि सति शेषः अवर्णः अवर्णात्परो लघुप्रयत्न-तरयश्रुतिर्भवति ॥ नयरं, रसायलो, पयावई, पायाळं । क्वचिद् भवति (अर्थात् शेष 'अ', 'आ' के पहले 'अ' या 'आ' नहीं होने पर भी) पियइ (पिबति) और सरिया (सरिता ८.१.१५) ।

व्याकरणकार चण्ड के 'प्राकृत लक्षण' में भी 'य' श्रुति का सूत्र दिया गया है परन्तु हेमचन्द्र की तरह इतना स्पष्ट नहीं है—

यत्वमवर्णे ३.३७

ककारवर्गतृतीययोरवर्णे परे यत्वं भवति । काकाः=काया, नागाः=नाया ॥

वररुचि इस प्रवृत्ति के बारे में मौन है । तो क्या ऐसा माना जाय कि इस 'य' श्रुति की प्रवृत्ति वररुचि के बाद में प्रारम्भ हुई या वररुचि ने जिस प्राकृत भाषा का व्याकरण लिखा है उसमें या उनके समय में 'य' श्रुति का प्रचलन ही नहीं था और यह प्रवृत्ति बाद में प्रचलित हुई ।

आश्चर्य की बात तो यह है कि इस मन्तव्य के विरुद्ध भरत—नाट्यशास्त्र में 'य' श्रुति का आंशिक रूप से प्रत्यक्ष रूप में अनुमोदन मिलता है। उसमें निम्न प्रकार का निर्देश है—

प्रचलाचिराचलादिषु भवति चकारोपि तु यकारः १७. १६

अर्थात् मध्यवर्ती 'च' का 'य' भी होता है।

अब लोक-प्रवृत्ति को भी देख लें कि उसमें 'य' श्रुति का प्रचलन था या नहीं और 'य' श्रुति के नियम का मात्र जैन लेखन परम्परा में ही जो पालन किया गया है वह कहीं तक उचित है ?

पालि साहित्य में तो मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों के लेप की प्रवृत्ति है ही नहीं फिर भी उसमें भी कहीं कहीं पर 'य' श्रुति मिलती है जो लोक-प्रवृत्ति के प्रभाव के नमूने मिल रहे हों ऐसा माध्यम होता है। गाड़गर महोदय<sup>१</sup> (३६) ने कुछ उदाहरण इस प्रकार दिये हैं जो प्राचीनतम पालि साहित्य में भी मिलते हैं—

निय(निज)—सुत्तनिपात, आवेणिय (आवेणिक) — विनयपिटक, अपरगोयान (अपरगोदान)—बोधिवंश, खायित (खादित)—जातक।

इस 'य' श्रुति का प्रचलन प्राचीन काल से ही था यह शिलालेखों से भी सिद्ध होता है। डॉ. एम. ए. मेहेंडले का इसके बारे में निम्न प्रकार का निष्कर्ष है—

सम्राट् अशोकके पूर्वी क्षेत्र के शिलालेखों में मध्यवर्ती 'क' और 'ग' का कभी कभी लोप होने पर शेष रहे उस 'अ' का जो 'अ' और 'इ' के पश्चात् आता है कभी कभी 'य' में बदलने के कुछ उदाहरण प्राप्त हो रहे हैं।

यह निष्कर्ष हेमचन्द्र के नियम के साथ पूर्णतः साम्य रखता है । वे आगे कहते हैं कि इसी प्रकार उत्तर-पश्चिम के शिलालेखों में 'आ' और 'ओ' के पश्चात् आने वाले 'ज' का लोप होने पर शेष रहे 'अ' के 'य' में बदलने के कुछ उदाहरण मिलते हैं ।

अशोक से परवर्ती ई. स. की चौथी शताब्दी तक के भारत के सभी क्षेत्रों में प्राप्त हो रहे शिलालेखों में मध्यवर्ती अल्पप्राण के लोप के बाद उद्बृत्त स्वर की 'य' श्रुति होने के कितने ही उदाहरण मिलते हैं और यथावत् उद्बृत्त स्वर भी मिलते हैं ।

शिलालेखों में प्राप्त हो रहे 'य' श्रुति के उदाहरण इस प्रकार दिये जा सकते हैं —

(अ) अशोक के शिलालेख

अनावुतिय (अनायुक्तिक)—धौली पृथक्, जौगड पृथक् ।—उपय (-उपग)—धौली, कालसी, शाह., मान., गिर. । अघातिय (अर्घत्रिक)—लघु शिलालेख ।

कम्बोय (कम्बोज), रय (राजन्), समय (समाज)—शाहवाजगढ़ ।

(ब) खरोष्ठी शिलालेख

(i) सहयर (सहचर) K१४<sup>2</sup>, महरय (महाराज) K१३<sup>1</sup>—प्रथम शती ई. स. पूर्व

(ii) संवत्सरय (संवत्सरक) K३<sup>1</sup>—प्रथमशताब्दी ई. स.

(iii) अव्यय 'च' का भी 'य' K८६<sup>3</sup>—द्वितीय शती ई.स.(K८६, काबुल के पास वर्दक के कलशलेख (Vase Inscp.) से ।

(iv) महरय (महाराज) K१३<sup>1</sup>, पूय (पूजा) K<sup>2</sup>, K८०<sup>4</sup>, K८८ (प्रथम शताब्दी ई. स. पूर्व से तृतीय शताब्दी ई. स. तक)

ज्ञातव्य हो कि प्रो. मेहेंडले द्वारा दिये गये उदाहरणों में (पृ. २९८—२९९) 'य' श्रुति के उदाहरणों के साथ साथ उद्बृत्त स्वरों के उदाहरणों की मात्रा अधिक है ।

व्याकरणकार वररुचि ने प्राकृत भाषा के जो लक्षण दिये हैं उनके आधार से वे दक्षिण प्रदेश (महाराष्ट्र, विन्ध्यगिरि के दक्षिण का प्रदेश) के निवासी थे ऐसी संभावना हो सकती है—यह एक अनुमान मात्र है । वे दक्षिण प्रदेश के हो और दक्षिण में 'य' श्रुति की यह प्रवृत्ति विद्यमान न हो ऐसी शंका की जा सकती है । परन्तु दक्षिण के शिलालेखों में प्रथम शताब्दी ई. स. पूर्व से ही इस प्रवृत्ति के उदाहरण मिलते हैं (\*देखिए आगे पृ. ४५ और अध्याय ८ का अन्तिमपैरा) ।

(i) अय—सोपारय (शूर्पारक) L १११९, नानाघाट II

आय—नाय (नाग) L १०७८, भाजा

इय—सामिय (स्वामिक) L १०१६३, नासिक IV

उय—पुयथ (पूजार्थ) L १०००<sup>३</sup>, कण्हेरी

ओय—महाभोय (महाभोज) L १०७३, कुडा

(ii) आया—राया (राजा) L १११३, नानाघाट I

उया—वेण्डुया (विष्णुका) L १०६०, कुडा

(iii) अयि—पवयितिका (प्रव्रजितिका) L १०४१, कुडा

पवयित (प्रव्रजित) L ११२५, नासिक IV एवं कण्हेरी

आयि—भायिला (भ्राजिला) L १०५०, काले I

इयि—वाणियिय (वाणिजिय—वाणिज्य) L १०५५, कुडा

एयि—वेयिका (वेदिका) L १०८९, काले I

(iv) आयू—पायून (पादेन) L ११३३. नासिक III

यही नहीं परन्तु चतुर्थ शताब्दी के मैसूर राज्य के बेलारी जिल्ले के शिवस्कंदवर्मा के हीरहडगल्लि के ताम्रपत्र में भी 'य' श्रुति का प्रयोग मिलता है ।

भारदायो (भारद्वाजः), भारदाय (भारद्वाज), अकूर—योल्लक(अकूर—चोल्लक) ।

अर्थात् ऐसा अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि दक्षिण में यह प्रवृत्ति नहीं थी । इस परिप्रेक्ष्य में वररुचि द्वारा 'य' श्रुति का उल्लेख नहीं किया जाना उनके व्याकरण का एक आश्चर्य ही है ।

शिलालेखों में जो उदाहरण मिलते हैं उनमें सभी स्वरों के पश्चात् आने वाले प्रायः सभी उद्भूत स्वरों के स्थान पर 'य' श्रुति मिलती है । पिशल महोदय का भी मत है कि जैनों द्वारा लिखी गयी हस्तप्रतों में भी यही स्थिति है परन्तु जैनैतर रचनाओं की हस्तप्रतों में यह 'य' श्रुति नहीं अपनायी गयी है । उन्का कहना है की लेखन का सही तरीका यह है कि सभी स्वरों के बाद उद्भूत स्वर अ और आ के स्थान पर 'य' श्रुति का उपयोग होना चाहिए (पिशल १८७) ।

आधुनिक भाषाओं में भी यह 'य' श्रुति कितने ही शब्दों में पायी जाती है ।

हिन्दी : गया, किया, दिया, पिया, अंधियारा, बहिनिया, सियार<sup>र</sup> (श्रृगाल), सीयाराम (सीताराम), जीयदान, अमिय, पियर ।

गुजराती : पियर, सीयाल (श्रृगाल), मायरु, दियर, गयो, शीयालो, होय ।

बंगाली : शूयर (शूकर), मोया (मोदक) । मराठी : पाय (पाद) ।

अन्य शब्द : धनपतराय, रायबहादुर, कायर ।

वास्तव में उच्चारण की सरलता और लघु-प्रयत्न का सिद्धांत ही

इस 'य' श्रुति में लागू होता है जो एक स्वाभाविक नियम है<sup>3</sup> जिसके लिए व्याकरणकारों का अनुसोदन हो या न हो, परन्तु सभी जैनेतर प्राकृत संस्करणों में 'य' श्रुति का नहीं मिलना वास्तविकता के अनुरूप नहीं है ।

- 
1. Pali Literature and Language, Geiger, Eng. Trans. by B. K. Ghosh, Delhi-1968, pp. 81-82
  2. Historical Grammar of Inscriptional Prakrits : M. A. Mehendale, Poona, 1948, pp. 271-276
  3. Prof. Satya Ranjan Banerjee is also of the same opinion. He says that something like 'Ya Śruti' is noticed by Pāṇini in one of his sūtras. He further surmises—'The above survey shows that 'Ya' śruti is a natural and logical consequence in language and in Prakrit this is reflected after the elision of some intervocalic consonants—'vide his article : 'Ya—śruti in Prakrit' published in the 'Jain Journal' Calcutta, Vol. XXVI, No. 3, Jan. 1992, pp. 166 and 168.

## ६. अनुनासिक व्यंजन ङ् और ञ् का अनुस्वार में परिवर्तन

आचार्य श्री हेमचन्द्र अपने प्राकृत व्याकरण के प्रारम्भ में ही प्रथम पाद के प्रथम सूत्र की वृत्ति में ऐसा कहते हैं कि अनुनासिक व्यंजन ङ् और ञ् अपने वर्ग के व्यंजनों के साथ संयुक्त रूप में प्रयुक्त होते ही हैं—

वृत्ति—ङञौ स्ववर्गसंयुक्तौ भवत एव (८.१.१)

परन्तु पुनः सूत्र नं २५ में ऐसा आदेश है कि ङ्, ञ्, ण् और न् के पश्चात् व्यंजन आने पर उनका अनुस्वार हो जाता है। यथा—  
सूत्र—ङञणनो व्यञ्जने (८.१.२५)

वृत्ति—ङञणन इत्येतेषां स्थाने व्यञ्जने परे अनुस्वारो भवति ।

उदाहरण— पङ्क्तिः=पंती, पराङ्मुखः=परंमुहो, कञ्चुकः=कंचुओ,  
लाञ्छनम् = लंछणं, षण्मुखः = छंमुहो, उत्कण्ठा = उक्कंठा, सन्ध्या=संज्ञा,  
विन्ध्यः = विंज्ञो ।

इनमें दो प्रकार के उदाहरण हैं—एक स्ववर्ग के और दूसरे परवर्ग के। कंचुओ, लंछणं, संज्ञा, विंज्ञो और उक्कंठा स्ववर्ग के हैं। जबकि परंमुहो और छंमुहो परवर्ग के हैं परन्तु साथवाला परवर्ग का व्यंजन भी अनुनासिक ही है।

इससे यह फलित होता है कि अनुनासिक व्यंजन यदि किसी भी व्यंजन के साथ संयुक्त रूप में आता है तो उसका अनुस्वार हो जाता है अर्थात् स्ववर्ग के साथ आने पर भी अनुस्वारमें बदल जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि पहले जो कहा गया कि अपने अपने वर्ग

के साथ व्यंजन-रूप में प्रयुक्त होता है—उसी के विपरीत यह कहा जा रहा है ।

हेमचन्द्र पुनः ऐसा कहते हैं कि अनुस्वार के पश्चात् वर्गीय व्यंजन आने पर उसका विकल्प से अनुनासिक होता है । उदाहरणार्थ—पङ्को—पंको, कञ्चुओ—कंचुओ, कण्ठओ—कंठओ, अन्तरं—अंतरं, कम्पइ—कंपइ । परन्तु अनुस्वार के पश्चात् स या ह आने पर अनुस्वार ही रहता है, जैसे—संसओ, संहरइ । यथा—

सूत्र—वर्गेन्त्यो वा (८.१.३०)

वृत्ति—अनुस्वारस्य वर्गे परे प्रत्यासत्तेस्तस्यैव वर्गस्यान्त्यो वा भवति ।

वर्ग इति किम् । संसओ, संहरइ ।

वे पुनः कहते हैं— नित्यमिच्छन्त्यन्ये ॥

अर्थात् एक परम्परा ऐसी थी जो अनुनासिक व्यञ्जन का स्ववर्ग के व्यञ्जन के साथ संयुक्त रूप में प्रयोग नित्य मानती थी ।

जब हेमचन्द्र के इन तीन प्रकारान्तर के विधानों का मन्थन करते हैं तो यह निष्कर्ष निकलता है कि पहले पहल उन्होंने संयुक्त व्यंजनों में ङ् और ञ् (अन्य अनुनासिकों की तरह) का प्रयोग मान्य रखा । तत्पश्चात् अनुस्वार का विधान किया और अन्त में अनुस्वार या अनुनासिक दोनों का प्रयोग वैकल्पिक बताया ।

इस विषय में वैयाकरण वररुचि का एक ही विधान रहा है जो श्री हेमचन्द्र के अंतिम विधान के साथ मेल रखता है । यथा—

सूत्र—ययि वर्गान्तः (४.१७)

वृत्ति—ययि परतो बिन्दुस्तद्वर्गान्तो वा भवति ।

उदाहरण— सङ्का, सङ्खो, संका, संखो



वररुचि इन दोनों प्रकार के प्रयोगों को वैकल्पिक मानते हैं जबकि आचार्य हेमचन्द्र पहले अनुनासिक के प्रयोग को मान्य स्वते हैं और बाद में उसे वैकल्पिक बना देते हैं और साथ ही साथ यह भी कहते हैं कि अन्य व्याकरणकार अनुनासिक व्यंजन के प्रयोग को निश्चय मानते हैं ।

इस सबका सार यही निकलता है कि प्राचीनता की दृष्टि से अनुनासिक (ङ् और ञ् का भी) का ही स्वप्न के व्यंजन के साथ संयुक्त रूप में प्रयोग होता था परन्तु बाद में वैकल्पिक रूप में अनुस्वार का प्रयोग होने लगा । प्राचीन प्राकृतों के बाद अर्वाचीन प्राकृतों में से होकर आधुनिक भाषाओं में अनुस्वार के प्रयोग की ही प्रधानता रही है और उसी का प्रभाव प्राकृत की हस्तप्रतों पर भी पड़ा और धीरे धीरे ङ् और ञ् के बदले में सिर्फ अनुस्वार का ही प्रचलन बढ़ता गया है ।

परन्तु स्वयं आचार्य श्री हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में ङ् और ञ् के सजातीय व्यंजन के साथ संयुक्त रूप वाले प्रयोग ही प्रायः मिलते हैं । घात्वादेश, शौरसेनी, मागधी और अपभ्रंश के उदाहरणों में भी यही स्थिति है । संयुक्त व्यंजन के रूप में प्रयुक्त ङ् के स्थान पर लगभग ६% और ञ् के स्थान पर लगभग १३% ही अनुस्वार के प्रयोग हैं । दोनों का सम्मिलित प्रयोग लगभग नौ प्रतिशत ही होता है ।

पं. श्री बेचरदासजी ने अपने हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण—ग्रन्थ में (गुजराती) अनेक स्थलों पर अनुनासिक के बदलेमें अनुस्वार के प्रयोग की छूट रखी है । परन्तु पिशळ महोदय के प्राकृत व्याकरण में प्राकृत साहित्य से दिये गये उदाहरणों में, शुब्रिग महोदय द्वारा

सम्पादित जैन आगमग्रन्थों में, याकोबी महोदय के पउमचरियं में और आल्सडर्फ महोदय द्वारा सम्पादित इत्थीपरिग्मा नाम के अध्याय में संयुक्तरूप में प्रयुक्त कवर्ग और चवर्ग के अनुनासिकों का ही प्रायः प्रयोग मिलता है, जो प्राचीन पद्धति का अनुकरण है ।

पालि भाषा में तो सजातीय व्यंजन के साथ ड् और ङ् के ही प्रयोग मिलते हैं । पालि की तरह अर्धमागधी भाषा भी प्राचीन भाषा रही है परन्तु आगम-ग्रन्थों के कई आधुनिक भारतीय संस्करणों में अनुस्वार का प्रचलन कर दिया गया है, जो स्पष्टतः किसी न किसी तरह पाइय-सदमहण्णवो की पद्धति, आधुनिक भाषाओं और परवर्ती हस्तप्रतों की लेखन-पद्धति से प्रभावित है । स्पष्ट है कि बदलती हुई इस पद्धति का प्रभाव प्राचीन प्राकृत साहित्य की अर्वाचीन हस्तप्रतों पर भी पड़े बिना नहीं रह सका ।

आचार्य श्री हेमचन्द्र द्वारा दिये गये कुछ उदाहरण, जिनमें अनुस्वार के स्थान पर अनुनासिक का प्रयोग है, इस प्रकार दिये जा सकते हैं—

शौरसेनी — कञ्चुइआ(४.२६३), हञ्जे (४.२८१)

मागधी — कञ्चुइया(४.३०२), हञ्जे (४.३०२)

अपभ्रंश — वड्कु (४.३३०), अड्गु (४.३३२)

मुञ्जन्ति (४.३३५) उच्छङ्गि (४.३३६)

हेमचन्द्र के निम्न सूत्रों एवं उदाहरणों में अनुस्वार के बदले अनुनासिक का प्रयोग है—

शुक्के ङ्गो वा (८.२.११) सुङ्गं, सुक्कं (पं. श्रीबेचरभाई के अनुसार सुंगं पृ. १०७)

शाङ्गेङ्गात्पूर्वात् (८.२.१००) सारङ्गं ।

पिशल द्वारा जैनेतर साहित्य से दिये गये उदाहरणों में अनुनासिक व्यंजन के प्रयोग :—

अङ्गार (हाल), भुञ्जसु (हाल), पउञ्ज (कर्पूरमञ्जरी) ।

गाथासप्तशती एवं सेतुबन्ध की तरह ही भास के नाटकों में भी इन दोनों अनुनासिकों के प्रयोग मिलते हैं जब वे सजातीय वर्ण के साथ प्रयुक्त हुए हैं ।

अन्त में ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा कि ङ् और ञ् के बदले में अनुस्वार का प्रयोग परवर्ती काल का है । अतः प्राचीन साहित्य में प्राचीन प्रयोग ही यथावत् रखने हो तो अर्धमागधी के ग्रन्थों के सम्पादन में ङ् और ञ् के प्रयोगों को अनुस्वार में नहीं बदलना चाहिए और याकोबी, शुब्रिंग तथा आल्सडर्फ महोदय की पद्धति का अनुकरण किया जाना चाहिए ।

आचाराङ्ग के आगमोदयसमिति के संस्करण में कवर्ग और चवर्ग के अनुनासिक व्यंजनों का सजातीय व्यंजनों के साथ प्रयोग इस प्रकार मिलते हैं—

संज्ञाय ९.१.१३, भुञ्जित्था ९.१.१८, १९, भुञ्जे ९.४.७  
पलालपुञ्जेसु ९.२.२, संलुञ्चमाणा ९.३.६ इत्यादि ।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि यही पुरानी पद्धति है । समय के प्रभाव से हस्तप्रतों में से अनुनासिक व्यंजन ङ् और ञ् के प्रयोग निकल गये । प्रतियां भी तो दसवीं—ग्यारवीं शताब्दी के बाद की ही मिलती हैं अतः उनमें ऐसे प्रयोग नहीं मिलना स्वाभाविक है । परंतु प्राचीन भाषा की प्राचीन कृतियों के सम्पादन में प्राचीन पद्धति अपनायी जानी चाहिए ।

1. सिद्धहेमशब्दानुशासन, लघुवृत्ति, खण्ड-3, अध्याय-8 (प्राकृत व्याकरण), युनि-  
ग्रन्थ-निर्माण बोर्ड, अहमदाबाद, 1978

## ७ प्राचीन प्राकृत भाषा में आद्य नकार या णकार

नमो अरहंतानं नमो सबसिधानं

—(हाथीगुंफा शिलालेख)

जैन धर्म में पंच परमेष्ठि को सर्वोत्कृष्ट स्थान दिया गया है और उनसे सम्बन्धित ही नमस्कार मन्त्र प्रचलित है और हर जैन प्रातःकाल में इसी मन्त्र का पाठ करता है। प्रचलित मन्त्र के प्रथम दो पद इस प्रकार के हैं—

नमो अरिहंताण

अथवा

णमो अरिहंताणं

एवं

नमो सिद्धाणं

अथवा

णमो सिद्धाणं

यहाँ पर हमारा प्रस्तुत विषय यह है कि शब्दों के प्रारम्भ में दन्त्य 'न' कार के बदले में मूर्धन्य 'ण' कार का प्रयोग प्राचीनतम प्राकृत भाषी (अर्धमागधी) ग्रन्थों में प्रचलित था या नहीं और उस साहित्य के आधुनिक संस्करणों में उसे जिस प्रकार प्रचलित किया गया है वह कहाँ तक उचित है ?

सर्वप्रथम ऊपर जो दो पद दिये गये हैं वे कलिगाधिपति महाराजा खारवेल के हाथीगुंफा शिलालेख से उद्धृत हैं। खारवेल का समय प्रथम और/या द्वितीय शताब्दी ई.पू. माना जाता है। राजा खारवेल निर्ग्रन्थ भक्त थे। वे ही मगध देश के राजा बृहस्पतिमित्र को अपने चरणों में नमाकर ३५० वर्ष पूर्व नन्दराजा द्वारा हड़प की गयी जिन प्रतिमा को वापिस अपने यहाँ लाये थे। स्पष्ट है कि वे निर्ग्रन्थ धर्म के दृढ भक्त थे। उन्हीं के शिलालेख में नमस्कार

मन्त्र के ये दो पद अंकित हैं और यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि यह मन्त्र अपने मूल रूप में 'नमो' से ही प्रारंभ होता था न कि 'णमो' से और मध्यवर्ती 'न' कार भी अपरिवर्तित था। यह तो भारत के पूर्व देश की बात हुई जहाँ पर जैन धर्म भगवान् महावीर के समय में बहुत फूला फला।

उसी प्रकार मथुरा (यानि शूरसेन प्रदेश, जिससे शौरसेनी प्राकृत का नामकरण हुआ) के प्रथम शती ई. सन् के राजा शोडास के लेख में भगवान् महावीर को नमस्कार करके लेख अंकित किया गया है जिसका पाठ इस प्रकार है—

### नम अरहतो वधमानस (नमः अर्हते वर्धमानाय)

हेमचन्द्राचार्य ने भी शौरसेनी प्राकृत के लक्षण समझते समय आर्ष भाषा के अव्यय णं का उदाहरण देते समय 'नमः' के लिये 'नमो' का उल्लेख किया है। उदाहरण— नमोत्थु णं (८.४.२८३)।

जैन धर्म पूर्व से पच्छिम की ओर फैला है और शूरसेन प्रदेश में आने पर भी 'नम' का 'नम' ही रहा, उसमें 'न' का 'ण' नहीं हुआ। आवश्यकसूत्र<sup>1</sup> में प्रथम बार मिलनेवाला नमस्कार मन्त्र भी 'न' से शुरू होता है :— नमो अरहंताणं।

सम्राट् अशोक के शिलालेखों में लगभग १२५ शब्द (जिनका कितनी ही बार प्रयोग हुआ है) 'न' कार से ही प्रारम्भ होते हैं। मात्र एक बार ही एक शब्द 'न' के बदले में 'ण' से प्रारम्भ होता है। वह शब्द है—

'णि झ [प्रे] त [त्रि] ये' जो जौगट के प्रथम पृथक् शिलालेख

में मिलता है। विद्वानों के अनुसार यह पाठ भी शंका से मुक्त नहीं है। इसी शब्द के अन्य प्रयोग अशोक के अन्य शिलालेखों में ग्यारह बार और मिलते हैं, जिनमें शब्द के प्रारम्भ में 'नि' का प्रयोग ही हुआ है।

पूर्वी भारत के खारवेल के शिलालेख में भी एक बार भी प्रारम्भिक 'न' का 'ण' नहीं मिलता है। शब्दों में प्रयुक्त प्रारम्भिक 'न' के कुछ शिलालेखीय और भी उदाहरण चतुर्थ शताब्दी तक के दिये जा सकते हैं, यथा—

निसिंठ (बर्ली, बड़ली) अजमेर, ई. स. पू. द्वितीय शताब्दी।

नमो (विजय सातकर्णी, नागार्जुनीकोण्ड) ई. स. तृतीय शती।

'न' कार को 'ण' में बदलने की प्रवृत्ति दक्षिण भारत से प्रारम्भ हुई हो ऐसा माना जाता है। फिर भी दक्षिण में भी चतुर्थ शताब्दी के कितने ही प्रयोग ऐसे मिलते हैं जिनमें 'न' कार भी मिलता है।

शिलालेखों में जो प्रवृत्ति मिलती है उसका सार प्रो० मेहेंडले (पृ. 276) के अनुसार इस प्रकार है—

प्रारम्भिक 'न' का 'ण' अशोक के समय में सिर्फ दक्षिण में कोपबाल के लेख में कभी कभी मिलता है। तत्पश्चात् मध्य भारत में दूसरी शताब्दी ईस्वी सन् पूर्व से और (दक्षिण भारत के) पश्चिमी क्षेत्र में (पूना इत्यादि) प्रथम शताब्दी में पाया जाता है। निश्चयात्मक उदाहरण प्रथम शताब्दी से उत्तर-पश्चिम में पाये जाते हैं। पुनः मध्य भारत में चतुर्थ शताब्दी से पाये जाते हैं।

शिलालेखों में शब्द के प्रारम्भ में नकार के स्थान पर णकार के प्रयोग प्रारंभ हो जाने पर भी कुछ प्रयोग प्रारंभिक नकारवाले भी मिलते हैं।

- (i) वेसनगर और भिलसा के लेखों में (द्वि. शती ई. स. पूर्व)—नेर्यति  
 (ii) ई. स. चतुर्थ शती (अ) वीरपुरुषदत्त—स्तंभ—लेख, नागार्जुनी—कोण्ड,  
 नागवसु, नागसिरि, (ब) गुणपदेय ताम्रपत्र, गुण्टुर— निवत्तणा, नारायण  
 और (स) शिवस्कंदवर्मन का ताम्रपत्र, हीरहडगल्लि, बेलारी—नेयिके,  
 नंदिजस, नागनंदि, निगहं, नराघम, निवतणं, नो (नः) ।

नकार को 'ण' में बदलने की मूल प्रवृत्ति दक्षिण की ही रही है जो बाद में अन्य क्षेत्रों में फैली है ।

### प्राकृत व्याकरणकारों का नियम :-

वररुचि के प्राकृत—प्रकाश के अनुसार प्रारम्भ और मध्य में सर्वत्र नकार का णकार होता है—

**नो णः सर्वत्र-२.५२ सूत्र और वृत्ति ।**

भरतनाट्यशास्त्रानुसार भी सर्वत्र णकार होता है । यथा—

**सर्वत्र च प्रयोगे भवति नकारोऽपि च णकारः ॥ १७.१३ ॥**

परन्तु हेमचन्द्र इस नियम से सहमत नहीं हैं ।

आदि नकार के लिए उनका सूत्र है—

**वादौ (८.१.२२९)**

**वृत्ति.....नस्य णो वा भवति ।**

अर्थात् वे आद्य नकार का ण में परिवर्तन वैकल्पिक मानते हैं और उनके द्वारा णरो, नरो; णई, नई; णेइ, नेइ—दोनों प्रकार के उदाहरण दिये गये हैं ।

णकार सम्बन्धित सूत्रों के अन्तर्गत वररुचि ने जो उदाहरण दिये हैं और पूरे व्याकरण में अन्य नियमों के अन्तर्गत जो उदाहरण

मिलते हैं उन सब में प्रारम्भिक नकार के बदले णकार ही मिलता है । परन्तु हेमचन्द्र द्वारा दिये गये उदाहरणों की कथा कुछ और ही है । उन्होंने शब्द के प्रारम्भ में न के लिए वैकल्पिक णकार का परंपरागत नियम तो अपनाया परन्तु चौथे पाद में दिये गये घात्वादेशों को छोड़कर जितने भी उदाहरण अपने व्याकरण में प्राकृत भाषा के अन्तर्गत दिये हैं उनमें प्रारम्भिक नकार के लिए प्रयुक्त नकार और णकार का अनुपात ८:१ है अर्थात् नौ प्रयोगों में से एक शब्द में ही णकार है । घात्वादेशों में भी शब्दों के प्रारंभ में नकार के लिए नकार ३४ बार और णकार ५५ बार मिलता है और उनका अनुपात २:३ का है । हेमचन्द्र के अपभ्रंश व्याकरण (८.४.३३२-४१२) में भी शब्द के प्रारम्भ में नकार के लिए प्रायः 'न' ही मिलता है<sup>२</sup> । डॉ. पी. एल. वैद्य<sup>३</sup> और पं. बेचरभाई दोशी<sup>४</sup> के हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण के संस्करण में यही स्थिति है । डॉ. भायाणी<sup>५</sup> ने आरम्भ में कुछ पदों में णकार अपनाया है परन्तु बाद के सभी पदों में नकार ही रखा है ।

प्राकृत भाषा की प्राचीन रचनाओं के अमुक संस्करणों में भी यही स्थिति है । मुनि पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित (म. जै. वि. संस्करण) उत्तराध्ययन, दशवैकालिक और आवश्यकसूत्र में प्रायः नकार का ही प्रयोग मिलेगा । वसुदेवहिंडी<sup>६</sup> का जो संस्करण छपा है उसमें भी प्रारम्भिक नकार का प्रायः नकार ही मिलता है, जो हेमचन्द्र से करीब ६०० से ८०० वर्ष पुरानी कृति है । डॉ. याकोबी द्वारा सम्पादित षष्ठमचारियं-विमलसूरि में भी यही स्थिति है । श्री एम.वी. पटवर्धन द्वारा सम्पादित वज्जालगं में भी प्रारंभिक न का प्रायः न ही मिलता है । आचार्य जिनविजय मुनि द्वारा सम्पादित नम्मयासुन्दरीकहा में प्रारंभिक न की प्रायः यही स्थिति है । नम्मयासुन्दरीकहा १२वीं शती



की रचना है, जो हेमचन्द्राचार्य के समय के बहुत नजदीक की है: अर्थात् प्रारंभिक न का ण प्रायः नहीं मिलता है। शिलालेखों और मुद्रित संस्करणों के इस परिप्रेक्ष्य में प्रो. नीति डोल्ची का निम्न अभिप्राय<sup>१</sup> कितना वास्तविक लगता है :-

उनका कहना है कि वररुचि का नकार का सर्वत्र णकार बनाने का नियम पिशल को मान्य हो परन्तु जुल्श ब्लेख को यह नियम मान्य नहीं है। प्राकृत के अन्य व्याकरणों और उनकी कारिकाओं के आधार पर से उनका ऐसा मत है कि वररुचि के अनुसार प्रारम्भिक न का ण कुछ शब्दों तक ही सीमित था परन्तु बाद में “नादौ” का सूत्र “वादौ” बन गया और आगे चलकर “वादौ” भी निकल गया और सर्वत्र ‘न’ का ‘ण’ हो गया जो किसी न किसी प्रकार की भूल से ऐसा हुआ है। ध्यान देने की बात यह है कि स्वयं हेमचन्द्राचार्य द्वारा दिये गये शौरसेनी और मागधी के उदाहरणों में कितने ही शब्दों में प्रारंभ में नकार मिलता है (८.४.२६०-३०२)

(i) शौरसेनी—निच्चिन्दो, नाडयं, नेदि, नियत्रिधिणो

(ii) मागधी—नले, नमिल, निस्फलं, नखिन्दाण

अव्ययों के उदाहरण— न (२९९), नु (३०२).

उनके अनुसार शौरसेनी में अव्यय ननु का ण होता है (८.४.२८३)। प्रो. नीति डोल्ची को भी शंका है कि सर्वत्र नकार का णकार (वररुचि के अनुसार) होता होगा? उनके अनुसार प्रारंभिक अवस्था में मात्र नून जैसे अव्यय के लिए षूण का प्रयोग होता होगा।

इस पूरी समीक्षा से ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन प्राकृत भाषा में प्रारंभिक 'न' का 'ण' नहीं होता था और यह तो बाद की प्रवृत्ति है। इस दृष्टि से प्राचीन अर्धमागधी आगम ग्रन्थों के सम्पादन में प्रारम्भिक 'न' का 'न' ही रखा जाना चाहिए और सम्पादकों ने जो अलग अलग पद्धति अपनायी हैं उसे सुधारने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

अर्धमागधी आगम साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ आचरांग है और उसके संस्करणों को देखें तो स्पष्ट होगा कि शुब्रिंग महोदय के संस्करण में प्रारंभिक नकार प्रायः नकार ही रखा गया है जबकि आगमोदय समिति के संस्करण में पचास प्रतिशत णकार मिलता है। जैन विश्व भारती के संस्करण में प्रायः णकार अपनाया गया है और महावीर जैन विद्यालय के संस्करण में तो पचहत्तर प्रतिशत णकार अपनाया गया है।

इस सारे विवेचन का सार यही है कि वररुचि का सर्वत्र नकार का णकार बनाने का विधान प्राचीन शिलालेखों और प्राचीन साहित्य में उपलब्ध प्रयोगों के अनुरूप नहीं है। यह नियम मात्र किसी एक प्राकृत (महाराष्ट्री) तक ही सीमित है। इस सम्बन्ध में हेमचन्द्राचार्य का विधान योग्य लगता है। अतः प्राचीनतम प्राकृत साहित्य के नये संस्करणों में शब्द के प्रारंभ के नकार के लिए नकार ही रखा जाना चाहिए और जिन्होंने नकार के बदले में णकार अपनाया है उन पर परवर्ती प्रवृत्ति का प्रभाव है और कुछ अंश में पाइय—सद्—

महृष्णवो में कोष सम्बन्धी सुविधा के लिये अपनायी गयी पद्धति का प्रभाव मादूम होता है, ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा।

- 
1. आवश्यक चूर्णी (श्री ऋषभदेव केसरीमल, रतलाम १९२८) पृ. 1  
महानिशीथ की प्राचीनतम प्रति में भी यही पाठ मिलता है।
  2. उदाहरणार्थ— नेइ, नहेण, निसिआ, निहए, निसावन्नु, निअथ, नेहडा, निच्छई  
निवडिआई नरु निच्चु, निजिउ, नारायणु। अव्यय न भी अनेक बार मिलता  
है- न (335, 340, 391), नवि (339), अव्यय न भी (392)।
  3. प्राकृत ग्रामर ओफ हेमचन्द्र—पी. एल. वैद्य, पूना, 1928
  4. सिद्धहेमशब्दानुशासन, लघुवृत्ति, खण्ड-3 अध्याय-8 (गुजराती) पं. बेचरदास दोशी,  
युनि. ग्रन्थ निर्माण बोर्ड, अहमदाबाद—1978
  5. अदभ्रंश व्याकरण (गुजराती), ह० चू० भायाणी, फार्विस गुजराती सभा, मुंबई  
1971
  6. वसुदेवहिण्डी, प्रथम खण्ड, श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, 1930
  7. Prakrit Grammarians, Motilal Banarasidas, 1972, pp. 19-20.

## ८. प्राचीन प्राकृत भाषा में मध्यवर्ती नकार

### (क) व्याकरण और साहित्य

प्राकृतभाषा के प्राचीनतम सुज्ञात व्याकरणकार वररुचि का मध्यवर्ती नकार के विषय में आदेश है :—

**नो णः सर्वत्र** (प्राकृत-प्रकाश 2.42 )

आचार्य श्री भरत के नाट्यशास्त्र में भी ऐसा ही नियम मिलता है—  
**सर्वत्र च प्रयोगे भवति नकारोऽपि च णकारः**—(भ.ना.शा. 17.13 )

परन्तु हेमचन्द्राचार्य का विधान इन दोनों से कुछ अलग है । मध्यवर्ती नकार के विषय में उनका सूत्र और उस पर की वृत्ति इस प्रकार है—

**सूत्र—नो णः** ( 8.1.228 ). **वृत्ति—आर्षे आरनालं, अनिलो, अनलो इत्याद्यपि ।**

अर्थात् वररुचि और भरतमुनि नकार के लिए सर्वत्र णकार के प्रयोग का आदेश देते हैं परन्तु हेमचन्द्राचार्य के अनुसार आर्षे प्राकृत अर्थात् अर्धमागधी भाषा में कभी—कभी मध्यवर्ती नकार के प्रयोग भी मिलते हैं ।

आचार्य श्री हेमचन्द्र ने अपनी वृत्ति में भले ही कभी—कभी दन्त्य नकार के प्रयोग अर्धमागधी तक ही सीमित रखे हो परन्तु उनके ही व्याकरण ग्रन्थ में मागधी और शौरसेनी प्राकृत में भी मध्यवर्ती नकार के प्रयोग मिलते हैं ।<sup>1</sup> मागधी में— घनुस्खंड ( 8.4.289 ) और संयुक्त व्यंजन के रूप में एक प्रयोग है :—**विस्नु** ( 8.4.289 )

यह तो उल्टा ण-न का प्रयोग (विष्णुम्) है । मागधी और शौरसेनी भाषा में—तदो पूरिदपदिञ्जेन मारुदिना मन्तिदो ( 8.4 260 ) जैसे प्रयोग हैं ।

पं. बेचरभाई दोशी ने हेमचन्द्राचार्य के इस ग्रन्थ के गुजराती संस्करण में मारुदिना के स्थान पर मारुदिणा पाठ दिया है ।<sup>2</sup> (देखिए पृ. 369) ।

मध्यवर्ती नकार के लिए कभी-कभी नकार का अपवाद के रूप में प्रयोग क्या प्राचीन जैन साहित्य तक ही मर्यादित था ? नहीं, ऐसा नहीं था । इतर साहित्य में यहाँ तक कि महाराष्ट्री प्राकृत काव्य में भी ऐसे प्रयोग कभी कभी मिल जाते हैं । यथा—

१. शारिपुत्रप्रकरणम् के प्राकृत अंशों में नकार का णकार मिलता ही नहीं है ।
  २. स्वप्नवासवदत्तम् में अपवाद के रूप में मध्यवर्ती नकार का प्रयोग मिलता है—विना<sub>3</sub>
  ३. गाथासप्तशती में ये दो प्रयोग हैं— हिअअव्वण—फोडनं (381) नाथ ! तुमं (384),<sup>4</sup> यह प्रारम्भिक नकार का उदाहरण है । वेबर महोदय के संस्करण में इन स्थलों पर 'हिअअवणप्फोडणं' और 'णाह' पाठ अपनाये गये हैं ।<sup>5</sup> क्या यह वररुचि के प्राकृत व्याकरण का उन पर अति प्रभाव तो नहीं है ?
  ४. प्राचीन अर्धमागधी ग्रन्थों में भी अनेक बार मध्यवर्ती नकार की उपलब्धि हो रही है । यथा—
- (1) आल्सडर्फ महोदय ने अर्धमागधी आगम साहित्य से जो जो अध्ययन संपादित किये हैं उनमें मध्यवर्ती दन्त्य नकार अनेक बार यथावत् मिलता है ।<sup>6</sup> यथा—

(II) (अ) सूत्रकृतांग(1.4) के इत्थी-परिन्ना अध्ययन में—सुहुमेनं 1.2, अंजनसलागं 2.10, (ब) उत्तराध्ययन के अध्ययन 5 में— मोनं (15.1), सुमिनं (15.7), सिनाणं (15.8), भोजनं (15.11), जवोदनं (15.13) एवं (स) दशवैकालिकसूत्र में—न खने (10.2), सुनिसियं (10.2)।

(III) शुब्रिग महोदय द्वारा सम्पादित 'इसिभासियाइ' नामक एक प्राचीन अर्धमागधी ग्रन्थ में तो मध्यवर्ती नकार की यथावत् स्थिति अन्य आगम ग्रन्थों से अधिक मात्रा में पायी जाती है, जैसे अ. 12 में परिनिव्वुडे, 9. पं. 2 में उवनिचिज्जइ, पं. 8 में भत्तपाण—निरोहणाइ एवं 91 में अनिव्वाणं, 95 में अनियत्ती, 9.12 में बद्धपुट्ट—निघत्ताणं, 9.28 में अनियट्टी, 10.8 में कालक्कमनीति-विसारदे, 17.3 में विनिच्छित्तं (पाठान्तर), 24. पं 9 में अनवदगं, 4.24 में अनलो, 24.39 में निच्चानिच्चं, 24. 40 में थानं, 38.24 में मोक्खनिव्वत्तिपाओगं, 40 पं. 2 में अनिगूहन्तो, 418 में अभिनन्दती, 41.9 में तवनिस्साए। ऊपर इत्थीपरिन्ना का — सुहुमेनं का उदाहरण तृतीया ए.व. की विभक्ति का है। इसिभासियाइ में 24.13 में ष, ब, व. के 'न' विभक्ति प्रत्यय की संभावना है—सव्वत्थानाऽभिलुप्पति। हेमचन्द्र के मागधी—शौरसेनी के प्रकरण से नकार वाली तृतीया विभक्ति के दो उदाहरण ऊपर आ चुके हैं जो विशेष (पदिज्जेन मारुदिना) ध्यान देने योग्य हैं।

इस संदर्भ में हमारे द्वारा विद्वानों का ध्यान आकर्षित करने का विशेष कारण यह है कि इस ग्रन्थ में महाकासव नामक अध्ययन (९) में मध्यवर्ती नकार ६ बार यथावत् मिलता है और अन्य

अध्ययनों में से कितने ही ऐसे प्रयोग यहाँ पर प्रस्तुत हैं ही । इस ग्रन्थ पर तो मध्यवर्ती नकार का प्रायः णकार होने का नियम घटित ही नहीं होता है, सर्वत्र की तो बात ही कहाँ रही । मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों का प्रायः लोप होने का नियम भी इस ग्रन्थ पर लागू नहीं होता है । इसका अर्थ यही है कि इस ग्रन्थ की हस्तप्रतों में कालक्रम से शब्दों के मध्यवर्ती व्यंजनों में इतना ध्वनि-परिवर्तन नहीं हुआ जितना अन्य अर्धमागधी आगम-ग्रन्थों की हस्तप्रतों में हुआ है । इसी कारण 'इसिभासियाई' की भाषा में शब्दों के मध्यवर्ती मूल व्यंजन अधिक प्रमाण में बचे हुए हैं ।

#### (IV) आचारांग से उदाहरण

अ शुब्रि'ग संस्करण ( सूत्र नं. म. जै. वि. के संस्करण से । )

अनिच्चयं १.१.५.४५, विनस्सइ १.२.३.७९, १.२.४.८२,  
अभिनिव्वत्तेज्जा १.३.४.१३०, अनिहे १.४.३.१४१, अनियाणा  
१.४.३.१४२, अनवयमाणे १.५.२.१५२, अनिहे १.५.३.१५८,  
विनिविट्ठचित्ते १.२.१.६३, १.६.१.१७८, अभिनिव्वट्ठा १.६.१.१८१,  
अभिनिक्खन्ता १.६.१.१८१, अनिहे १.६.५.१९७, अनिसट्ठं  
१.८.२.२०४, आनक्खेस्सामि १.८.५.२१९, अभिनिव्वुडच्चे  
१.८.६.२२४, अभिनिव्वुडे १.९.४.३२२ इत्यादि ।

#### (ब) आगमोदयसमिति संस्करण

परिनिव्वाणं १.१.६.५०, अपरिनिव्वाणं १.१.६.५०, अपरि-  
निव्वाणं १.४.२.१३३, अनियट्ठगामीणं १.४.४.१३७, बहुनडे १.५.१.  
१४५, अनुगच्छन्ति १.५.५.१६१, अभिनिव्वुडा १.६.१.१७९,  
अभिनिक्कता १.६.१.१७९, परिनिव्वुडे १.६.५.१९५, अभिनिव्वुडच्चे

१.८.६.२२१, अभिनिव्वुडच्चे १.८.७.२२६, अभिनिव्वुडे  
 १.९.४, (गाथा. १६), पिडनिगरेसु २.१.२.१२, अवनमिथ  
 (२) २.१.६.३२, उवनिक्खित्तो २.१.७.३७, उवनिमंतिज्जा  
 २.१.१०.५८, उवनिक्खित्तपुव्वे २.१.११.६२, अनिमंतेमाणस्स  
 २.२.३.९०, अभिनिवारियं २.३.२.१२५, उवनिमंतिज्जा  
 २.७.१.१५६, उवनिमंतिज्जा २.७.१.१५७, —अनीहडं  
 २.१.६५, उवनिमंतंति, उवनिमंतित्ता २.१.७६, परिनिव्वाइस्संति  
 २.१.७८, अभिनक्खमणं २.१.७९ (गाथा१)

### (V) अ. सूत्रकृतांग (म. जै. वि.)

सुनिरुद्ध दंसण १.२.३.१५३, परिनिव्वुडे १.३.३.२२४, ४.२.४६,  
 सनिमित्तं २.१.६४४, अभिनिव्वट्टित्ताणं २.१.६५०, (८ बार)  
 अभिनिव्वट्टित्ताणं २.१.६५०, नवनीतं २.१.६५०, अनिरए  
 २.१.६५१, परिनिव्वुड २.१.६८२, ७११, अनिवाणमग्गे  
 २.२.७१०, परिनिव्वायंति २.२.७१४, अभिनिव्वट्टमाणा २.३.  
 ७३२, ७३३.

### ब. सूत्रकृतांग (आगमोदय)

अनिययं १.१.२.४ विनियच्छइ १.१.२.१७ अभिनिव्वुडा  
 १.२.१.१२ अनेसी १.२.२.१ सुनिरुद्ध दंसणे १.२.३.१२  
 अनारिया १.३.१.१४ परिनिव्वुडे १.३.३.२१ अभिनिव्वुडे  
 १.८.२५ अभिनिव्वुडे १.१०.४ अभिनिव्वट्टित्ता २.१.९ (९ बार)  
 अनिरएइ २.१.९ सनिमित्तं २.१.७ परिनिव्वुडे २.१.१५ अनि-  
 व्वणमग्गे २.२.३.२ परिनिव्वुडे २.२.३.३ उवनिहिया २.२.३.८



परिनिष्ठाणं २२४० अभिनिवृत्तमाणा २३५६, ५७. परिनि-  
वृद्धे २४६७ नवनीय २१९.

### (VI) उत्तराध्ययन (म. जै. वि.)

अनुच्चे १३०, सुनिष्ठिए १३६ परिनिष्ठिए २३२

प्राचीन प्राकृत भाषाओं में व्ही नहीं परंतु अपभ्रंश भाषा में भी मध्यवर्ती नकार वाले प्रयोग मिलते हैं जो हेमचन्द्राचार्य के व्याकरण (अध्याय ८.४) से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यथा—विरहानल, अनु (अन्यथा) ४१५, वडनवानल ३६५, विनडिज्जइ ३७०, विनडउ ३८५ सासानल ३९५, रयणनिहि ४२२ इत्यादि। संयुक्ताक्षर में भी नकार प्राप्त है। यथा—बिन्नि, विन्नासिया ४१८, अधिन्नइं (अधीनानि) ४२७।

इस प्रकार प्राकृत साहित्य में और वह भी सविशेष प्राचीन प्राकृत साहित्य में मध्यवर्ती नकार के प्रयोग की बिल्कुल नास्ति नहीं रही है। कभी कम मात्रा में तो कभी अधिक मात्रा में अपवाद के रूप में भी उसका प्रयोग होता रहा है,<sup>7</sup> और विभक्ति प्रत्यय में भी चार छ उदाहरण दन्त्य नकार वाले प्राप्त हुए हैं (सू. कृ. के आगे के चूर्णी—पाठ भी देखिए)।

### (ख) हस्तप्रतों में मध्यवर्ती नकार

हस्तप्रतों का अवलोकन करने पर यही स्थिति उपलब्ध होती है। यहाँ पर एक वस्तु ध्यान में लेने योग्य यह है कि प्राचीन ग्रंथों के सम्पादकों ने शायद यह नियम स्वीकार कर लिया कि सम्पादित ग्रंथ में मध्यवर्ती नकार वाले पाठान्तरों का निर्देश करना व्यर्थ है क्योंकि प्राकृत भाषा के व्याकरणों के अनुसार मध्यवर्ती नकार का

णकार ही होता है । अतः सम्पादित ग्रंथों में ऐसे नकारवाले शब्दों के पाठान्तर प्रायः नहीं दिये गये हैं, जबकि हस्तप्रतों में कितने ही मध्यवर्ती नकार वाले पाठ मिलते हैं । इससे स्पष्ट है कि परम्परा ऐसी नहीं थी कि सर्वत्र नकार का णकार कर दिया जाय ।

हस्तप्रतों में उपलब्ध हो रहे मध्यवर्ती नकार वाले पाठों का कुछ दिग्दर्शन यहाँ किया जा सकता है ।

### स्वीकृत पाठ

### हस्तप्रत में पाठान्तर

१ [ आचारांग ( म. जै. वि. ) ]	[ पूना की प्रत ( शुब्रिंग ) ]
कट्टणिस्सता 1.1.4.37	कट्टिनिस्सिया
अपरिणिब्बाणं 1.1.6.49	अपरिनेब्बाणं
छञ्जीवणिकायसत्थं 1.1.7.62	छञ्जीवनिकायसत्थं
अण्णेसि वा अंतिए 1.1.1.2	अन्नेसि वा अंतिए, चूर्णी पृ. 13.1
२ [ सूत्रकृतांग, 1.4 ( इत्थीपरिन्ना ) ]	पाठान्तर
( म. जै. वि. )	
सुहुमेण 1.2	सुहुमेँ ( आल्सडर्फ )
	सुहुमेन ( चूर्णी पाठ ) <sup>8</sup>
छन्नपदेण 1.2	छन्नपदेन " "
एताणि 1.4, 16	एतानि " "

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सम्पादकों ने मध्यवर्ती नकार का प्रयोग न अपनाकर उसके स्थान पर सर्वत्र णकार का प्रयोग ही उचित माना है ।

## (ग) शिलालेख

हस्त प्रत्नों में कालान्तर से चालू भाषा के प्रभाव के कारण भाषिक परिवर्तन हो जाना एक सामान्य बात है परंतु शिलालेखों की भाषा उत्कीर्ण होने के कारण उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। अतः उनकी भाषा में मध्यवर्ती नकार के जो अनेक प्रयोग मिलते हैं वे प्राकृत भाषा के अध्ययन की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करते हैं। निम्न उदाहरणों से स्पष्ट होगा कि मध्यवर्ती नकार में परिवर्तन होते हुए भी कितने ही प्रयोग ऐसे चलते थे जिनमें मूल नकार यथावत् ही रहता था :—

- (I) ई. स. पूर्व दूसरी शताब्दी के भिलसा, (बेसनगर) के शिलालेख में भागवतेन, योनदूतेन, आगतेन, राजेन, पदानि, वघमानस, योन, आदि। अजमेर (बर्ली) के शिलालेख में—मालिनिये।
- (II) ई. स. पूर्व प्रथम शताब्दी के नानाघाट के गुफालेख में—वासुदेवान, चंदसूरानं, वघनस एवं खारवेल के शिलालेख में—मेघवाहनेन, सेनाय, यवनराज।
- (III) ई. स. प्रथम शताब्दी के महुत स्तंभ लेख में—धनभूतिन(ना) तथा सारनाथ के बौद्धमूर्ति लेख में—वनस्परेन, खरपल्लानेन।
- (IV) ई. स. द्वितीय शताब्दी के मथुरा जैन-मूर्तिलेख (हुत्रिष्क) में शिसगन (शिष्यकेन) तथा नासिक के गुफालेख (नहपान) में—वसवुथान।
- (V) ई. स. तृतीय शताब्दी के नागार्जुनी-कोण्ड के वीरपुरषदत्त के लेख में—मनुस, मान, पसमन, चीन, थेरियनं, भगिनीय और शान्तमूल के लेख में इखाकुनं, अनुधितं।

(VI) ई. स. चतुर्थ शताब्दी के नागार्जुनी-कोण्ड के स्तंभ लेख में—  
अनेक, अनंत, इखाकून तथा मैसूर के मयूरशर्मण के लेख में—  
विनिम्मिअं, सकस्थन । गुण्टूर के ताम्रपत्र (स्कंदवर्मन) में—  
जननी, वद्वनीयं एवं बैलारी ताम्रपत्र (शिवस्कंद वर्मन्) हीरहड-  
गल्लि में—सेनापति, सासनस्स, अनेक, मनुस, वघनिक, प्पदायिनो,  
मदेन, इत्यादि के लिए देखिए पिशाल-२२४.

शिलालेखों में मध्यवर्ती नकार के स्थान पर णकार के प्रयोग  
के विषय में डाक्टर मेहेण्डले का क्या अभिप्राय है उसे भी ध्यान में  
लेना लाभदायी होगा । उनके कहने का सार यह है कि अशोक के  
समय में सभी जगह कुछ ही प्रयोग ऐसे मिलते हैं जिनमें नकार का  
णकार हुआ है ।<sup>9</sup> ये प्रयोग भी मुख्यतः पश्चिम, \* दक्षिण \* \* और उत्तर  
पश्चिम में मिलते हैं ।<sup>10</sup> अशोक के पश्चात् भी पश्चिम और उत्तर-  
पश्चिम में नकार का णकार मिलता है परंतु अल्प प्रमाण में ही ।  
दक्षिण में प्रथम शताब्दी से नकार का णकार अधिक प्रमाण में तो  
मिलता है परन्तु सर्वत्र के रूप में नहीं । नकार के स्थान पर णकार  
के प्रयोग की बहुलता चौथी शताब्दी से मध्यक्षेत्र में पायी जाती है ।

उनका कहने का तात्पर्य यह है कि ई. स. पूर्व या ई. स.  
की प्रारंभिक शताब्दियों में भारत के किसी भी प्रदेश में नकार के  
स्थान पर णकार का प्रयोग प्रायः के रूप में या सर्वत्र के रूप में  
होता हो ऐसा शिलालेखों से प्रमाणित नहीं हो रहा है ।

### घ मध्यवर्ती णकार का नकार-एक नया मुद्दा

(अ) व्याकरणकारों के अनुसार पैशाची और चूलिका पैशाची  
भाषा में णकार के स्थान पर नकार का प्रयोग होता है ।<sup>11</sup> अन्य

\* पश्चिम अर्थात् विन्ध्य पर्वतमाला का दक्षिणी भाग ।

\*\* दक्षिण में कोपञ्चाल के शिलालेखों में न = ण 50% मिलता है ।

किसी भी प्राकृत भाषा के विषय में ऐसे प्रयोग का उल्लेख नहीं है । ण = न की यह प्रवृत्ति अशोक के पूर्वी प्रदेश के शिलालेशों में पायी जाती है । अपवाद के रूप में ऐसे प्रयोग शाहबाजगढ और मानसेरा में अल्प प्रमाण में और येरागुडी (मैसूर) में कुछ अधिक प्रमाण में पाये जाते हैं । अशोक के पश्चात् ऐसे प्रयोग अन्य क्षेत्रों में भी फैलते हैं परंतु उनका प्रमाण बहुत कम है (मेहेण्डले पृ. 273) उत्तर पश्चिम के प्रथम से चौथी शताब्दी तक के खरोष्ठी के शिलालेखों में भी कुछ ऐसे प्रयोग मिलते हैं (मेहेण्डले पृ 304) ।

भारत के पूर्वी प्रदेश की भाषा मागधी थी । अशोक के शिलालेखों के अनुसार धौली और जौगड में णकार का प्रायः नकार मिलता है परंतु किसी भी व्याकरण में मागधी भाषा के लिए ण=न का उल्लेख नहीं मिलता है । इसका क्या कारण हो सकता है, यह विचारणीय है ।<sup>12</sup>

अशोक के पश्चात् अन्य शिलालेखों में प्राप्त ण=न के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

- (1) ई. स. पू. दूसरी शताब्दी (वेसनगर, भिलसा)—(वषेण=वर्षेण)
- (2) ई. स. प्रथम शताब्दी (मथुरा, बुद्ध-प्रतिमा लेख) प्रहान (प्रहाण), (भर्हुत स्तंभ लेख) पुतेन (पुत्रेण)
- (3) तीसरी शताब्दी (नागार्जुनीकोण्ड, वीरपुरुषदत्त) परिनामेतुनं (परिणमय्य) ।
- (4) ई. स. तीसरी—चौथी शताब्दी (नागार्जुनीकोण्ड) अचरियेन (आचार्येण) थेरेन (स्थविरेण)

इस सारे अध्ययन और विश्लेषण का सार यही है कि मध्यवर्ती

नकार को सर्वत्र णकार में बदलने का नियम शास्त्रीय हो सकता है परंतु वास्तविकता से मेल नहीं खाता है। प्राचीनतम प्राकृतों (मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, इत्यादि) में नकार का सर्वत्र णकार हो गया हो यह विश्वसनीय नहीं होता है। अतः अर्धमागधी के प्राचीन ग्रंथों के सम्पादन में सर्वत्र नकार का णकार बनाना उचित नहीं माना जा सकता। कम से कम इतनी मर्यादा तो अवश्य रखी जा सकती है कि यदि किसी एक हस्तप्रत में ही नकार मिलता हो तो ऐसी अवस्था में नकार ही स्वीकार किया जाना चाहिए जिससे अर्धमागधी भाषा की प्राचीनता और उसका अपनी पूर्वी प्रदेश की लक्षणिकता अक्षुण्ण बनी रहे।

### (ङ) ण्ण, ण्य और णं का भी न्न में परिवर्तन

इसके साथ यह भी ध्यान में लेने योग्य है कि ण्ण, ण्य और णं का जो सामान्यतः ण्ण होता है उसके स्थान पर हस्तप्रतों में कभी कभी न्न भी मिलता है। पिशल ने (225) इस संबंध में जैन साहित्य की हस्तप्रतों से उदाहरण भी दिये हैं (निसन्न), परिपुन्न (प्रतिपूर्ण), वन्न (वर्ण)। ऐसे उदाहरण और भी जोड़े जा सकते हैं जैसे कि मुनि श्री पुण्यविजयजी द्वारा संपादित उत्तराध्ययन (म जै वि संस्करण) में ण्य=न्न के कुछ प्रयोग, नर्मदासुन्दरी कथा में ण्य=न्न के कुछ प्रयोग और हेमचन्द्राचार्य के अपभ्रंश व्याकरण के कुछ उदाहरणों में, रन्नु (अरण्य 4.341), चुन्नी (चूर्णी 4.430) कन्नडड (कर्णे 4.432) जैसे प्रयोग। मोहेण्डले के अनुसार ण्य=न्न की प्रवृत्ति पूर्वी-क्षेत्र में पायी जाती है (पृ. 281)। देखिए आगे अध्याय नं (१०)

### (च) आधुनिक भाषाओं में न का ण और ण का न

सभी प्राकृत भाषाओं में सर्वत्र नकार का णकार कर देना कहाँ तक उचित माना जायगा । इस विधान की हम अन्य दृष्टि से भी कसौटी कर सकते हैं । आधुनिक युग की भारतीय आर्यकुल की विविध भाषाओं जैसे कि हिन्दी, मराठी, गुजराती, पंजाबी, ओरिया, बंगाली, इत्यादि में कुछ न कुछ ऐसे भिन्न भिन्न शब्द मिलते हैं जिनमें से किसी में नःण और किसी में ण=न का ध्वनिगत परिवर्तन हुआ है । अमुक अमुक ऐसे शब्दों की कुछ न कुछ पूर्वकालीन स्थानीय—क्षेत्रीय परंपरा रही होगी अतः ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा कि इन प्रादेशिक भाषाओं के अपने अपने पूर्व काल की विभिन्न प्राकृत बोलियों में अलग अलग शब्दों में किसी में न=ण और किसी में ण=न का उच्चारण और प्रयोग चलता रहा होगा । ऐसे प्रयोग वास्तव में सीमित होंगे । ऐसा नहीं कि सभी शब्दों में नकार के स्थान पर णकार का प्रयोग होता होगा ।

वास्तविक रूप में देखा जाय तो संस्कृत भाषा के संदर्भ में कौनसी ऐसी आधुनिक भाषा है जिसमें नकार का णकार सर्वत्र या प्रायः होता हो । इस दृष्टि से प्राचीन प्राकृत भाषाओं (अर्धमागधी, इत्यादि और प्राचीन नाटकों की प्राकृत भाषा) में सर्वत्र नकार का णकार किया जाना शिलालेखों की भाषा अर्थात् लोक-परंपरा से विमुख, अनुपयुक्त और अनुचित जान पड़ता है ।

भारतीय आर्यकुल की आधुनिक भाषाओं में प्रयुक्त कुछ शब्दों की तालिका आगे दी गई है, जिसमें अमुक भाषाओं के कुछ शब्दों में नकार का णकार और कुछ शब्दों में णकार का नकार मिलता है । प्रस्तुत शब्दावली श्री टर्नर महोदय के कोश<sup>13</sup> से दी गयी है जो

स्वयं सर्वाङ्गीण तो नहीं कही जा सकती क्योंकि अनेक ऐसे शब्द आधुनिक साहित्यिक भाषाओं और बोलचाल की भाषाओं में अभी भी पाये जाते हैं जिनका समावेश इस कोश में नहीं हो सका है। फिर भी नकार और णकार के प्रयोग के विषय में स्पष्टीकरण हो सके इस उद्देश्य से कुछ शब्द उस कोश में से ही प्रस्तुत किये गये हैं।

इस तालिका से प्रतीत होता है कि नकार के बदले में णकार वाले या णकार के बदले में नकार वाले शब्द अधिकतर किसी एक क्षेत्र विशेष में प्राप्त होते हैं तो अमुक शब्द कभी कभी एक से अधिक क्षेत्रों में पाये जाते हैं। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि अभी भी भारत के पश्चिमी भाग में जैसे कि गुजराती, सिंधी, मराठी आदि में मध्यवर्ती नकार का णकार अधिक प्रमाण में मिलता है और भारत के पूर्वी भाग जैसे कि हिन्दी, मैथिली, बिहारी, अवधी, बंगाली, नेपाली आदि में णकार का नकार मिलता है। अशोक और उसके बाद के प्राचीन शिलालेखों में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति के दर्शन दो अलग-अलग क्षेत्रों की त्रिशिष्टताओं के रूप में होते हैं। इससे यह फलित होता है कि प्राचीन काल से आज तक नकार का णकार में परिवर्तन पश्चिमी और दक्षिणी भारत की विशेषता रही है। प्रचलित भाषाओं में शब्दों का आदान-प्रदान होता रहता है, अतः एक प्रदेश की विशेषता का प्रभाव दूसरे प्रदेश में भी पाया जा सकता है जैसे कि तालिका के उदाहरणों से स्पष्ट हो रहा है कि मध्यवर्ती नकार या णकार वाले शब्द दोनों क्षेत्रों में पाये जाते हैं।



संस्कृत	ओरिया	कुसौनी	कोंकणी	गुजराती	पंजाबी	मराठी	मारवारी	लहेडा	प पहारी	सिंधी
आवथ्	आणिवा	आण्णी		आणइ (पा.)		आण्णे	आणडु	आण्	आण्णो	आण्णु
इन्धन				इ धन, इ धणु	इन्धण	इ धण				
जन-	जण, जणे		जण	जण	जणा	जण	जणो	जणा		जणो
जानाति			जाणा	जाणडु	जाणना	जाण्णे	जाण्णो	जाण्णू	जाण्णु	जाण्णु
तान		ताणो		ताणी	ताण	ताण		ताणा	ताणी	ताणो
घनिच्				घणी		घणी	घणी <sup>५</sup>		घणी	घणी
पनस	पणस		पणसु	फणस		पणस, पणसु				
भाजन			भाण	भाणु		भाणे		भाण, भाणा		भाणु
वचन				वेण, वयण	वेण, वैण			वैण		वेणु
स्थान	ठाणा	थाणो	ठान	ठाण्, थाणु	थाण, थाणा ठाणो	ठाण, ठाणे				थाणु, थाणो



इस दृष्टि से वररुचि के प्राकृत—प्रकाश का यह नियम कि नकार का सर्वत्र णकार होता है किसी प्रदेश की ही प्रवृत्ति हो सकती है, न कि सारे भारत की सभी प्राकृत भाषाओं की। श्रीमती नीति दोल्ची ने तो वररुचि के इस नियम (सूत्र नं. 242) की प्रामाणिकता पर ही शंका की है, जो बिल्कुल उचित है। उनके अनुसार इस सूत्र में सर्वत्र शब्द बाद में जोड़ा गया है। पहले उसमें 'नादौ' था और बाद में उसमें 'वादौ' आ गया। अन्त में उसके स्थान पर 'सर्वत्र' शब्द जोड़ दिया गया है।<sup>14</sup>

हमारी दृष्टि से तो ऐसा भी हो सकता है कि मूल सूत्र में 'नो=णः' ही था। यह नियम प्रारंभिक नकार के लिए नहीं था, परन्तु केवल मध्यवर्ती नकार तक ही सीमित था। वररुचि स्वयं दक्षिण—प्रदेशी (अर्थात् आधुनिक महाराष्ट्र के पश्चिमी भाग के दक्षिण प्रदेश के) रहे होंगे, तभी उनके इस न=ण के नियम की सार्थकता सिद्ध हो सकती है अन्यथा क्षेत्र एवं काल की दृष्टि से इस नियम की विसंवादिता सिद्ध होती है। अब ध्यान में लेने योग्य मुद्दा यह है कि मागधी और अर्धमागधी जैसी भाषाएँ तो पूर्वी भारत की भाषाएँ थीं और उनके लिए नकार का णकार में नियमित परिवर्तन कभी भी नहीं होता था। अतः इस सारे अध्ययन और विश्लेषण का निष्कर्ष यही निकलता है कि अर्धमागधी भाषा के प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन करते समय मध्यवर्ती नकार का सर्वत्र णकार बनाना अनुचित और अनुपयुक्त ही माना जाना चाहिए और मध्यवर्ती अवस्था में दन्त्य नकार के प्रयोग अल्प प्रमाण में ही सही यदि ग्रन्थ की किसी भी प्रत में, उसके उद्धरणों में या उसकी नियुक्ति, चूणी या वृत्ति में मिलते हो तो मूल नकार ही स्वीकार्य होना चाहिए।

### टिप्पण

1. विश्व महोदय (224) को ललित-विग्रहराज नाटिका की मागधी और शार-सेनी भाषा में उपलब्ध नकार (प्रारम्भिक) क्रमशः निश्चल (निर्झर), निरन्तर, निभ (561.2) तथा नोमालिर (नवमालिके) (560.9,17), मुद्रण के दोष लगते हैं। वास्तव में ऐसा नहीं होना चाहिए, परन्तु इन्हें प्राचीन पाठ माना जाना चाहिए, जो किसी न किसी तरह अपने मूल रूप में बच गये हैं। प्राचीन कृतियों में इसी प्रकार मध्यवर्ती नकार के प्रयोग भी अशुभ प्रमाण में चालू रहे होंगे परन्तु किसी न किसी प्रभाव के कारण लेहियों के हाथ और कुछ अंश में सम्पादकों के हाथ वे धीरे धीरे अदृश्य होते गए ऐसा मानना अनुपयुक्त नहीं होगा।
2. सिद्धहेमशब्दानुशासन, लघुवृत्ति खंड-3, अध्याय-८, युनिवर्सिटी ग्रन्थ-निर्माण बोर्ड, गुजरात राज्य, अहमदाबाद-6, 1978
3. अंक 1, श्लोक 15 के पश्चात्, देवघर संस्करण, पूना, पृ. 11, ई. स. 1937.
4. संग० जोगलेकर, पुणे, 1956, पाठान्तर या शुद्धिपत्रक में कोई अन्यथा उल्लेख नहीं है।
5. लीपबिग, ई. स. 1881
6. देखिए आल्सडर्फ का लेख संग्रह : - Kleine Schriften, Wiesbaden, 1974
7. विश्व (224) महोदय ने पू. हेमचन्द्राचार्य द्वारा किये गये इस उल्लेख (अपवाद रूप-प्रयोग यानि अर्धमागधी में कुछ शब्दों में मध्यवर्ती नकार पाया जाता है) की टीका की है। उनका कहना है कि किसी गलत पाठ के कारण पू. हेमचन्द्र ने ऐसे अपवाद का आदेश दिया है (8. 1. 228)। परन्तु इस निबन्ध में प्रस्तुत तथ्यों के आधार पर विश्व महोदय का यह विधान अब उपयुक्त नहीं लगता।
8. पू० मुनि श्री पुण्यविजयजी द्वारा संपादित सूत्रकृतांग में दिया हुआ चूर्णी का पाठ, प्रा. टे. सोसायटी, 1975 पृ. 103
9. Historical Grammar of Inscriptional Prakrits, M.A. Mehendale, Poona, 1948, p. 276

10. पूर्वी क्षेत्र में तो उलटा णकार का नकार मिलता है ।
11. णोनः [प्राकृत-प्रकाश, 10.5, हेमचन्द्र 8:4.306]
12. पिशाल महोदय ने (225) एक मात्र सिंहदेवगणि को ऐसा कहते बताया है कि मागधी में भी ण का न (वाग्भटालंकारटीका, 2.2 उदाहरण, तलुन =तलुण) होना चाहिए । परंतु पिशाल महोदय इसे उनका मागधी में पेशाची का भ्रम होना बतलाते हैं । हमारे खयाल से सिंहदेवगणि के इस विधान में अवश्य कुछ तथ्य होना चाहिए, क्योंकि अशोक के पूर्वी प्रदेश के शिलालेखों से इसका अनुमोदन हो रहा है ।
13. A Comparative Dictionary of the Indo-Aryan Languages, R.L. Turner, London, 1966
14. Prakrit Grammarians, Motilal Banarāsidas, Delhi, 1972.

## १. प्राचीन प्राकृत भाषा में झ=ञ या ण

पालि भाषा में शब्द के प्रारम्भ में झ=ञ और मध्य में झ=ञ्ज का प्रयोग मिलता है । जैसे—जाति (जाति), पञ्जा (प्रज्ञा) । लेकिन नामसिद्धिजातक में जब प्रज्ञप्ति के लिए पणत्ति शब्द मिले तो क्या समझना चाहिए ? यही कि प्राचीन पालि भाषा में झ=ञ्ज था और उत्तरवर्ती पालि में =ण का प्रयोग भी चल पड़ा । इसी तरह के और प्रयोग जातकअट्टकथा में मिलते हैं, जैसे—आणापेति, आणत्ति, आणत्ति । यह प्राकृत का प्रभाव है ऐसा सिद्ध होता है और यह भी कि पहले झ का ञ्ज बना और बाद में झ=ण्ण चल पड़ा ।

**मागधी में झ विषयक आदेश :**

(I) श्री वररुचि के व्याकरण प्राकृत—प्रकाश में मागधी भाषा के अन्तर्गत झ के परिवर्तन के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया है । उसमें शौरसेनी भाषा को मागधी की प्रकृति मानी है अतः शौरसेनी में झ का ञ्ज (सूत्र १२.७) और ण (अर्थात् ण्ण, सूत्र १२.८) होना जो बतलाया गया वही मागधी के लिए भी लागू होता है । प्रतियों के षाठान्तरों में झ=ञ्ज के स्थान पर उज और अ (अर्थात् ञ्ज) भी मिलता है (देखिए—E.B.Cowell 3.5; 12.7 का कलकत्ता का संस्करण, १९६२) ।

(II) विशल (२७६) का यह मत है कि झ का ञ्ज गलत है । पैशाची के सम्बन्ध में भी वे उसे गलत मानते हैं और उसमें ञ्ज के स्थान पर ञ्ज को ही सही मानते हैं ।

(III) आ. श्री हेमचन्द्र के व्याकरण के अनुसार मागधी में

ज्ञ का ज्ञ (८.४, २९३) होता है—पञ्जा, शब्दज्ञ, अवञ्जा (प्रज्ञा, सर्वज्ञ, अवज्ञा) ।

अतः मागधी में ज्ञ के लिए ज्ञ ही मान्य था और वररुचि के अनुसार जो ण, ण्ण फलित होता है वह भी योग्य नहीं लगता । यह तो उत्तरवर्ती प्रवृत्ति का अनुकरण उनके व्याकरण में (उत्तरवर्ती काल में) कर दिया गया हो ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है, क्योंकि बारहवां अध्ययन ही प्रक्षिप्त माना गया है, जिसमें मागधी का विवरण मिलता है ।

### पैशाची भाषा में ज्ञ का ज्ञ :

श्री वररुचि (१०.९ के अनुसार पैशाची में ज्ञ का ज्ञ होता है । पाठान्तर में ज्ञ मिलता है । पिशल के अनुसार ये दोनों गलत हैं । उनकी राय में हेमचन्द्र का सूत्र (४.३०३) ही सही है जो ज्ञ=ज्ञ का आदेश देता है, पञ्जा, शब्दज्ञो, विज्ञानं (प्रज्ञा, सर्वज्ञः, विज्ञानम्) ।

### शौरसेनी में ज्ञ=ण्ण और ज्ञ :

श्री वररुचि के अनुसार (१२.७) ज्ञ=ज्ञ और ण (ण्ण) और आ. हेमचन्द्र के अनुसार (८.४.२८६) शेषं प्राकृतवत् अर्थात् प्राकृत की तरह ज्ञ का ण्ण और कभी कभी ज्ञ होता है (सूत्र ८.२.४२ और ८.२.८३), पण्णा, णाणं (प्रज्ञा, ज्ञानम्), मणोज्जं, पञ्जा (मनोज्ञम्, प्रज्ञा) । परन्तु आ. हेमचन्द्र द्वारा शौरसेनी भाषा के अन्तर्गत पहले ही सूत्र (८.४.२६०) की वृत्ति में दिये गये उदाहरण 'पदिञ्जेन' में ज्ञ के लिए ज्ञा का प्रयोग है । अर्थात् शौरसेनी में ज्ञा की प्रवृत्ति चालू थी परन्तु उत्तरवर्ती काल में ण्ण आ गया हो ऐसा फलित होता है ।

## सामान्य प्राकृत और ज्ञ=ञ :

सामान्य प्राकृत में वररुचि (३.५.३.४४) और हेमचन्द्र के अनुसार (८.२.४२, ८३; ३.५५) ज्ञ का ण्ण और उज्ज होता है। प्राकृत के इन व्याकरणकारों ने किसी भी प्राकृत भाषा के लिए ज्ञ=न्न का उल्लेख नहीं किया है। सिर्फ भरत के नाट्यशास्त्र (१७.२२) में ही यज्ञ के लिए 'जन्न' शब्द का प्रयोग प्राकृत भाषा के लिए बतलाया गया है। इस उदाहरण में ज्ञ=न्न स्पष्ट हो रहा है।

## पिशल द्वारा दिये गये उदाहरण :

पिशल महोदय (२७६) को मागधी भाषा के लिए ज्ञ=ज्ज के उदाहरण साहित्य में कहीं पर भी नहीं मिले, मात्र ण्ण के ही उदाहरण मिले हैं। अर्धमागधी और महाराष्ट्री साहित्य में से भी ज्ञ=ज्ज के उदाहरण उन्हें नहीं मिले। शोरसेनी से मणोज्ज दिया है। परन्तु पाइयसदमहण्णवो के अनुसार प्रज्ञापना सूत्र में (अर्धमागधी) और उपदेशपद (जैन महाराष्ट्री) में मणोज्ज शब्द मिलता है।

## नाटकों से उदाहरण :

स्वप्नवासवदत्तम् में जादि (ज्ञाति), विज्जाण (विज्ञान) अज्जाद (अज्ञात) और उसी नाटक में पडिण्णा (प्रतिज्ञा) और आणवेदि (आज्ञापयति) अर्थात् ज्ज और ण्ण वाले दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। भास के अन्य नाटकों में भी ज्ज का प्रयोग मिलता है। परन्तु विक्रमोर्वशीयम् और मृच्छकटिकम् में ज्ञ का ण्ण मिलता है। शाकुन्तलम् में भी ण (आणवेदि) मिलता है। पिशल को (२७६) अर्धमागधी साहित्य के सिवाय अन्य प्राकृत भाषा के साहित्य से कोई भी ऐसा उदाहरण नहीं मिला जिसमें ज्ञ का न्न हो। पिशल महोदय ने (२७६)



आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिकसूत्र और औपपातिकसूत्र से अनेक ऐसे उदाहरण दिये हैं जिनमें ज्ञ=ण के साथ न्न भी मिलता है, जन्न (यज्ञ), मणुन्न (मनोज्ञ), नज्जइ (ज्ञायते), नाण (ज्ञान) इत्यादि । भरतनाट्यशास्त्र में तो जन्न (यज्ञ) का उदाहरण मिलता ही है । उन्होंने ज्ञ=ण का कोई उदाहरण नहीं दिया है ।

### ज्ञ=न्न की परम्परा :

श्री करुचि और आ. हेमचन्द्र ने अलग से ज्ञ=न्न का कोई उल्लेख नहीं किया है परन्तु अर्धमागधी साहित्य में ज्ञ=न्न मिलता है । पिशल महोदय के अनुसार अर्धमागधी में ज्ञ=न्न की बहुलता पायी जाती है ।

अब प्रश्न यह होता है कि अर्धमागधी साहित्य में ज्ञ=न और न्न कहाँ से आये ? प्रो. मेहेण्डले द्वारा \* (पृ २८०) किये गये शिलालेखों की भाषा के विश्लेषण के अनुसार ज्ञ के परिवर्तनों की प्रक्रिया इस प्रकार है—

(I) अशोक के समय में पूर्वाक्षेत्र, मध्य और उत्तर में ज्ञ=न और ण (न्न)

(II) अशोक के समय में पश्चिम, उत्तर-पश्चिम (दक्षिण में भी) ज्ञ=ञ और ञ (ञ्ज)

\* शिलालेखों से उदाहरण

ज्ञाति=नाति (घौली, जोगड, कालसी और स्तंभलेख)

ज्ञाति=जाति (गिरनार और दक्षिण के लेख)

राज्ञा=राजिना (घली, जोगड, रुम्मिनीदेई)

राज्ञा=राजा (गिरनार, समहनाजमदी)

विज्ञाप=विनप (सारनाथ), विज्ञप्ति, विनति (इलाहाबाद-रानीलेख)

- (III) दूसरी शताब्दी ई.स. पू. में ज्ञ=न, न्न पश्चिम में फैला और ज, ज्ञ पूर्व और मध्यक्षेत्र में आया ।
- (IV) प्रथम और द्वितीय शताब्दी में दक्षिण में ज्ञ=न (न्न) और ज (ज्ञ) एक साथ प्रयुक्त हुए, तीसरी शताब्दी से दक्षिण में ज (ज्ञ) अदृश्य हो गया ।
- (V) अशोक के समय में उत्तर-पश्चिम और दक्षिण में कभी कभी ही ज्ञ=ण भी मिलता था । वह प्रथम-द्वितीय शताब्दी में पश्चिम में फैला, द्वितीय-तृतीय शताब्दी में उस ण का प्रचलन दक्षिण में बढ़ा और चौथी शताब्दी में मध्यक्षेत्र में उसका प्रचलन हुआ ।

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि पूर्वी क्षेत्र में प्रारम्भ से ही ज्ञ=न (न्न) का प्रचलन था और ण (ण) का प्रचलन उत्तर-पश्चिम में था । चार सौ वर्षों के बाद ण का प्रचलन पश्चिम में होता है । उसके बाद दक्षिण में बढ़ता है और उसके पश्चात् मध्यक्षेत्र में प्रचलित होता है । अर्धमागधी साहित्य के प्राचीन अंश का सृजन पूर्वी क्षेत्र में हुआ है अतः वहाँ से ही अपनी एक विशेषता ज्ञ=न (न्न) अर्धमागधी भाषा में भी आयी । जैन धर्म का केन्द्र जब पश्चिम भारत बना तब अर्धमागधी साहित्य में ज्ञ=ण (ण) भी प्राविष्ट हुआ होगा ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है ।

आ. हेमचन्द्राचार्य ने ज्ञ=न्न का उल्लेख अर्धमागधी भाषा के लिए भी नहीं किया यह एक आश्चर्य की बात है । ऐसी सम्भावना भी नहीं की जा सकती कि अर्धमागधी में पहले ज्ञ=ण था और बाद में न्न हो गया । ज्ञ=न्न की विशेषता अर्धमागधी भाषा अपने ही

उत्पत्ति स्थल से प्राचीन काल से ही अपने साथ लेकर चली है इसमें संदेह नहीं हो सकता । अतः ऐसे ग्रन्थों के सम्पादन में ज्ञ के स्थान पर शब्द के प्रारम्भ में न और मध्य में न्न को ही प्राथमिकता दी जानी चाहिए क्योंकि जिस प्रकार उत्तरवर्ती पालि में ज्ञ के लिए ण का प्रचलन हो गया उसी प्रकार अर्धमागधी साहित्य की उत्तरवर्ती हस्तलिखित प्रतियों में ज्ञ=न्न के स्थान पर ण आ गया जो आगमों के अनेक संस्करणों में प्रतिबिम्बित हो रहा है । इस सम्बन्ध में आचारांग के प्रथम श्रुत-स्कंध के विविध संस्करणों के प्रथम अध्ययन के विश्लेषण से ऐसा स्पष्ट हो रहा है कि—

(I) शुत्रिग महोदय के संस्करण में

प्रारम्भिक ज्ञ = न ९ बार

मध्यवर्ती ज्ञ = ण २ [सिर्फ आज्ञा = आणा] बार

मध्यवर्ती ज्ञ = न ४८ बार

(II) आगमोदय समिति के संस्करण में

प्रारम्भिक ज्ञ = ण ९ बार

मध्यवर्ती ज्ञ = ण ५० बार

(III) जैन विश्वभारती के संस्करण में

प्रारम्भिक ज्ञ = न १ बार

प्रारम्भिक ज्ञ = ण १० बार

मध्यवर्ती ज्ञ = ण ५० बार

(IV) महावीर जैन विद्यालय के संस्करण में

प्रारम्भिक ज्ञ = ण ९ बार

मध्यवर्ती ज्ञ = ण ५१ बार

शुब्रिंग महोदय की पद्धति ज्ञ के विषय में कितनी उचित है यह ऊपर किये गये अध्ययन के निम्न उपसंहार से स्पष्ट हो जायगा । अर्द्ध-मागधी आगमग्रंथों के अमुक अध्ययनों के सम्पादन में प्रो. आल्सडर्फ ने भी यही पद्धति अपनायी है ।

### उपसंहार :

प्राचीनकाल में (अशोक के समय में) पूर्वाक्षेत्र में ज्ञ = न्न, पश्चिम में = ज्ञ और उत्तर-पश्चिम और दक्षिण में = ण का प्रचलन था । उत्तरवर्ती काल में ण का प्रचलन व्यापक होने लगा और यह प्रवृत्ति पहले पश्चिम (प्रथम-द्वितीय शताब्दी) में, तत्पश्चात् दक्षिण (द्वितीय-तृतीय शताब्दी) में और उसके बाद मध्यक्षेत्र (चौथी शताब्दी) में फैली जो उत्तरवर्ती काल में न का ण बनाने की प्रवृत्ति से प्रभावित हुई है और इससे स्पष्ट है कि प्राचीन अर्धमागधी ग्रंथों में ज्ञ = न्न (प्रारम्भ में न) का प्रयोग ही ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा योग्य और सही है जिसे शुब्रिंग महोदय और आल्सडर्फ महोदय ने अपनाया है ।

आचार्य श्री हेमचन्द्र ने आर्ष के उदाहरण देते समय जो उद्धरण प्रस्तुत किये हैं उनमें से एक उद्धरण ८.२.१०४ में—‘हयं नाणं किया—हीणं’ मिलता है । क्या ज्ञ के लिए न का यह प्रयोग सम्पादकों के लिए एक विश्वसनीय प्रमाण नहीं है ?

## १०. प्राचीन प्राकृत भाषा में ण्य, न्न, न्य, और ण का न्न या ण्ण

सामान्य प्राकृत भाषा में वररुचि या आ. श्री हेमचन्द्र किसी ने ण्य, न्न, न्य और ण में होने वाले ध्वन्यात्मक परिवर्तन के बारे में कुछ विशेष नहीं कहा है। मागधी और पैशाची प्राकृत में न्य और ण्य का ङ्ग ङ्ग बदलने का नियम आ. हेमचन्द्रने ने (४.४.२९३, ३०५) दिया है। वररुचि के अनुसार उनका (१२७) ङ्ग हो जाता है, जो विद्वानों की दृष्टि में शंकायुक्त ही रहा है और इसे लिपि-दोष माना गया है —

सूत्र—ब्रह्मण्यविज्ञयज्ञकन्यकानां ण्यज्ञन्यानां ङ्गो वा १२७

(क) ण्य = ण्ण या न्न :

आ. श्री हेमचंद्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में जितने भी उदाहरण दिये हैं उनमें जहाँ पर भी ण्य का प्रसंग है वहाँ पर ण्य = ण्ण ही प्रायः मिलता है। अपवाद के रूप में अपभ्रंश ङ्ग अरण्य के लिए रन्नु भी मिलता (१.३४१) है। प्राचीन प्रतों और मुद्रित प्राकृत साहित्य में अपवाद के रूप में कहीं-कहीं पर ण्य = न्न मिलता है। नम्मयासुन्दरी (सिधी जैन सीरिज) में ण्य = न्न के प्रयोग मिलते हैं।

डा. मेहेण्डले (पृ. २८१) के अनुसार अशोक के शिलालेखों में पूर्वी क्षेत्र और उत्तर में ण्य का न (न्न), पश्चिम में न (न्न) और ङ (ङ्ग), उत्तर-पश्चिम में ङ (ङ्ग) मिलता है। यह ण्य = न (न्न) पूर्व से मध्य क्षेत्र में और फिर पश्चिम की ओर बढ़ता है, जबकि ण्य = ण (ण्ण) उत्तर-पश्चिम में और दक्षिण में ई. स. पूर्व तीसरी शताब्दी में मिलता है। यही ण (ण्ण) ई. स. पूर्व द्वितीय शताब्दी

में पश्चिम में आता है और तत्पश्चात् ण (ण्ण) मिलता है । दक्षिण में तो ण (ण्ण) अन्य शताब्दियों में भी वैसा का वैसा रहता है । कहने का सार यह है कि ण्य = न्न पूर्व से अन्य क्षेत्रों में जबकि ण्य = ण्ण उत्तर—पश्चिम और दक्षिण से अन्य क्षेत्रों में फैला । इस प्रकार की प्रवृत्ति के अनुसार अर्धमागधी के प्रारंभिक काल में ण्य का न्न भी हो सकता है । पश्चिम में भी ण्य = ज्ज (ज्ज्ज) के स्थान पर ण्य = न्न का प्रसार बढ़ता है और बाद में ण्ण का ।

### (ख) न्न = न्न या ण्ण

दो दन्त्य अनुनासिकों के संयुक्त प्रयोग अर्थात् न्न के लिए वररुचि के प्राकृत प्रकाश में जो उदाहरण मिलते हैं उनमें न्न का ण्ण मिलता है । परन्तु आ. श्री हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में न्न = न्न के प्रयोग मिलते हैं । यथा—उच्छन्ना (8.1.114), किलिन्न (8.1.145), किलिन्नं (8.2.106), पडिवन्नं (8.1.206), धात्वादेश में उन्नामइ (8.4.36), पन्नाइइ (8.4.126) ।

न्न = न्न या ण्ण के वैकल्पिक प्रयोग के कारण डॉ. वैब के आ. श्री हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के संस्करण में मूल में उच्छन्ना और पडिवन्नं के स्थान पर ग्रन्थ के अंत में दी गई शब्दावली में उच्छण्णो और पडिवण्णं छपा है । पं. श्री बेचरभाई दोशी के गुजराती संस्करण में इन दोनों शब्दों में न्न ही मिलता है । आ. श्री हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में लगभग 75 प्रतिशत संयुक्त दन्त्य न्न = न्न ही मिलता है उनके द्वारा दिये गये मागधी और शौरसेनी प्राकृत के उदाहरणों में न्न = न्न भी मिलता है ।—

**मागधी :-** अवन्नवश्चले (8.4.295).

संपन्ना मणोरघा (8.4.285 और 302 के अनुसार)

**शौरसेनी :-** संपन्ना मणोरघा (8.4.285)

आ. श्री हेमचन्द्र द्वारा दिये गये अपभ्रंश के उदाहरणों में भी न्न = न्न के प्रयोग भी मिलते हैं — किलिन्नओ (8.4.322), निन्नेह (8.4.367) । अन्य संयुक्त न्न के प्रयोग वाले उदाहरण इस प्रकार मिलते हैं :-

विन्नासिआ (8.4.418) बिन्नि (8.4.418) अधिन्नइं (8.4.421) । वज्जालगं (एम. वी. पटवर्धन संस्करण) में न्न अपनाया गया है । नम्मयासुंदरी (सिंधी जैन सीरिज) में न्न = न्न अपनाया गया है । डा. मेहेण्डले ने शिलालेखों की भाषा के विषय में अपने उपसंहार में न्न = न्न या ण्ण के बारे में कुछ नहीं कहा है ।

**(ग) न्य = न्न या ण्ण :**

आ. हेमचन्द्र ने “वादौ” सूत्र (8.1.229) द्वारा आदि नकार का वैकल्पिक न होना बतलाया है । उसी सूत्र की वृत्ति में ऐसा बतलाया है कि “न्याय” शब्द का “नाओ” होता है । इससे यह फलित होता है कि आदि न्य का न होता है परन्तु मध्यवर्ती न्य के लिए कोई आदेश नहीं दिया है । उनके द्वारा उद्धृत उदाहरणों से स्थिति जानी जा सकती है । वररुचि के उदाहरणों में तो न्य = ण्ण ही मिलता है जबकि आ. हेमचन्द्र के व्याकरण में अनेक उदाहरण न्य = न्न वाले मिलते हैं :- सेन्न = (सेन्य), अहिमन्नू (अभि-मन्युः), अन्नोन्नं (अन्योन्यम्), मन्ने (मन्ये), अन्नारिसो (अन्यादृशः) और अपभ्रंश—अन्नाइसो ।

इस प्रकार लगभग 85 प्रतिशत शब्द न्य = न्न के मिलते हैं। सार्वनामिक शब्द अन्यत् के जो जो विभक्ति रूप दिये गये हैं वे सब न्य = न्न वाले ही मिलते हैं। उनकी शौरसेनी में भी अन्यत् के लिए अन्नं शब्द (8.4.277) ही मिलता है।

अपभ्रंश में भी न्य = न्न के लगभग 19 प्रयोग मिलते हैं और न्य = ण्ण का मात्र एक ही प्रयोग मिलता है — अन्नु (8.4.337), साम्नु (8.4.418), नीसावन्नु (8.4.341) अन्न (8.4.359, 370, 372, 383, 401) इत्यादि। वज्जालगं (एम. वी पटवर्धन संस्करण) में न्य = न्न अपनाया गया है। नम्मयासुंदरी (सिंधी जैन सीरिज) में न्य = न्न अपनाया गया है। डॉ. मेहेण्डले के अनुसार (पृ. 196) शिलालेखों में न्य के परिवर्तन की स्थिति इस प्रकार रही है :—

1. = ज, ज्ज, अशोक के समय में पश्चिम और उत्तर—पश्चिम में।
2. = न, न्न (न) अशोक के समय में पूर्व, मध्य और उत्तरी क्षेत्र में और दक्षिण में भी।
3. = ज, ज्ज उत्तरवर्ती शिलालेखों में पश्चिम में।
4. = न, न्न दूसरी शताब्दी में पश्चिम में।
5. = न, न्न उत्तरवर्ती शिलालेखों में पूर्वी और मध्य क्षेत्र में।
6. = ज और न (ज्ज, न्न) तीसरी शताब्दी तक दक्षिण में।

कहने का सार यह है कि न्य = न्न का पूर्व और उत्तर से मध्यक्षेत्र और पश्चिम में प्रसार होता है।

पूर्वीक्षेत्र में उसका तालव्यीकरण नहीं (ज ज्ज, ) हुआ और न ही मूर्धन्यीकरण (= ण, ण्ण) हुआ। न्य का 'निय' (स्वरभक्ति से)



अवश्य हुआ। डॉ. मेहेण्डले ने न्य = ण्ण का कोई उल्लेख नहीं किया है।

इस विवरण से यही फलित होता है कि अशोक के काल से चौथी शताब्दी तक के शिलालेखों में न्य = ण्ण के प्रयोग अपवाद के रूप में ही मिल रहे होंगे जैसे मानसेरा में 'अन्य' शब्द के लिए अण = (अण्ण) और 'मन्य' के लिए = मण (मण्ण) मिलते हैं।

(घ) ण = ण्ण या न्न :

आ. श्री हैमचन्द्र के व्याकरण में ण के स्थान पर प्रायः ण्ण मिलता है। अपवाद के रूप में अपभ्रंश में कुछ प्रयोग ण = न्न वाले मिलते हैं :- चुन्नी होसई (चूर्णी भविष्यति 8.4.430), कन्नडइ (कर्ण 8.4.432)। ण के लिए ण्ण या न्न की उपलब्धि अलग अलग संस्करणों में क्रमशः इस प्रकार है। डॉ. पी. एल. वैद्य १ : ८, प. बेचरभाई 10 : 1 डॉ. भायाणी 9 : 2 के अनुपात में। आचारांग की चूर्णि में (वन्नेऊण पृ. 29. पंक्ति 2) भी ण = न्न के प्रयोग मिलते हैं। नम्मयासुंदरी में ण = न्न के कितने ही प्रयोग मिलते हैं।

डॉ. मेहेण्डले के अनुसार (पृ. 281) शिलालेखों में ण की स्थिति इस प्रकार रही है :-

1. = णि (ण्ण), अशोक के काल में दक्षिण में।
2. = णि (न्न), अशोक के काल में पूर्व, उत्तर और मध्यक्षेत्र में
3. = ण्ण, भी तीसरी शताब्दी ई. स. पूर्व मध्यक्षेत्र में।
4. = न्न, द्वितीय और प्रथम शताब्दी ई. स. पूर्व मध्यक्षेत्र में।

5. = न्न और ण्ण, द्वितीय शताब्दी ई. स. पूर्व में पूर्वी क्षेत्र में ।

6 = न्न, ई. स. पूर्व प्रथम शताब्दी में पश्चिम में ।

7 = ण्ण, परन्तु तत्पश्चात् पश्चिम में ण्ण ।

8. = न्न, प्रथम और द्वितीय शताब्दी में मध्यक्षेत्र में ।

9. = ण्ण, द्वितीय शताब्दी से दक्षिण में ।

अर्थात् ण्ण = ण्ण दक्षिण की प्रवृत्ति रही है और मध्यक्षेत्र की भी । वहाँ से पश्चिम में फैलती है । मूलतः ण्ण = न्न पूर्वी क्षेत्र की प्रवृत्ति और बाद में वहाँ पर भी ण्ण का प्रसार होता है ।

आ. श्री हेमचन्द्र के व्याकरण में जो उद्धरण हैं उनमें न्न और न्य गुच्छों के लिए प्रायः न्न मिलता है और ण्य तथा ण्ण गुच्छों के लिए प्रायः ण्ण मिलता है, मात्र अपवाद के रूप में इसके लिए न्न मिलता है । शिलालेखों के अनुसार पूर्वी क्षेत्र में प्रारंभ से ही इन सभी गुच्छों (न्न, न्य, ण्य, ण्ण) के लिए प्रायः न्न ही मिलता है । दक्षिण और उत्तर-पश्चिम में इनके लिए ण्ण की भी परम्परा थी जो उत्तरवर्ती काल में अन्य क्षेत्रों में फैल गई । अतः प्राचीन प्राकृत साहित्य, जिसकी रचना पूर्वी क्षेत्र में हुई है अर्थात् अर्धमागधी भाषा में तो न्न की ही परम्परा रही होगी परन्तु उत्तरवर्ती काल में पश्चिम के प्रभाव में आकर न्न का परिवर्तन ण्ण में हो गया है ऐसा स्पष्ट साबित होता है । अतः जिन जिन अर्धमागधी आगम के संस्करणों में ण्ण की बहुलता दिखती है वह मूल अर्धमागधी के प्रतिकूल लगती है, ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा ।

## ११ —स्सिं और —म्हि सप्तमी एकवचन के प्राचीन विभक्ति-प्रत्यय

पिशळ (४२८) महोदय ने उत्तराध्ययन—१५.२ (४५४) और प्रज्ञापना सूत्र (६३७) से किम् का (सप्तमी एकवचन का) 'कम्हि' रूप उद्धृत किया है जो किसी न किसी प्रकार अर्धमागधी आगम में बच गया है। यही विभक्ति-प्रत्यय व्यवहारसूत्र में भी मिलता है—इमम्हि (७.२२, २३)। कुन्दकुन्दाचार्य के प्रवचनसार<sup>१</sup> में भी यही विभक्ति-प्रत्यय नामिक शब्दों में मिलता है—चरियम्हि १.७९, दवियम्हि २.६२, जिणमदम्हि ३.११, विकघम्हि, उवधिम्हि ३.१५, चेट्टम्हि ३.१९। लीलिंग-शब्दों में भी यह मिलता है।

उवएसमाला (धर्मदासगणि) में कम्हि, (गाथा नं. ७६) मिलता है। ष्टखंडागम (पुस्तक, १३, पृ २९७) में भी ऐसे प्रयोग हैं—एक्कम्हि, कम्हि, एगजीवम्हि।

यही —म्हि विभक्ति पालि भाषा में नाम और सर्वनाम दोनों तरह के शब्दों में प्रयुक्त हुई है; परन्तु प्राकृत साहित्य में उसका इतना प्रचलन नहीं मिलता है जितना पालि साहित्य में। प्राकृत व्याकरणकार वररुचि और हेमचन्द्र दोनों ने सप्तमी एकवचन के लिए —'म्हि' प्रत्यय का उल्लेख नहीं किया; फिर भी प्राकृत भाषा में कहीं न कहीं पर —'म्हि' वाले रूप मिल रहे हैं, जो

---

1. पिशळ (३६६ अ) महोदय की दृष्टि में प्रवचनसार के ये रूप गलत हैं किन्तु डॉ० आ० ने० उपाध्ये ने इन्हें अपनाया है।

किसी न किसी प्रकार लोकभाषा में प्रचलन के कारण बच पाये हैं। आचारांग में तो तृतीया बहुवचन की विभक्ति—भि (थीभि १.२.४. ८४ म. जै. वि. संस्करण) भी बच गयी है।

शिलालेखों में यही—म्हि विभक्ति इस प्रकार मिल रही है, जैसे—अशोक के शिलालेखों में :—

**नाम शब्द**—अथम्हि (गि० ४.१०), **सर्वनाम**—तम्हि, इमम्हि, अजम्हि, एकतरम्हि (गि० ४.१०, ९.२, ९.८, १३.५)। ये सभी शब्द गिरनार के लेखों में मिलते हैं। यही विभक्ति प्रत्यय द्वितीय शताब्दी ई० सन् पू० में काले<sup>१</sup> के लेख में 'जंबुदीपम्हि', प्रथम शताब्दी ई० सन् पू० में बुन्देलखण्ड के भरहुत के लेख में 'तीरम्हि', रेवाराज्य की सीलहरा के प्रथम शताब्दी के गुफा लेख में 'करयंतम्हि', द्वितीय शताब्दी में दक्षिण के नागार्जुनी—कोण्ड के लेख में 'महाचेतियम्हि' और तीसरी शताब्दी में एलूरा के ताम्रपत्र में 'पदेसम्हि' में मिलता है। अर्थात् अशोक—कालीन पश्चिमी क्षेत्र का यह विभक्ति प्रत्यय मध्य भारत और दक्षिण भारत में भी प्रचलित हुआ<sup>२</sup>।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार नाम शब्दों में सप्तमी एक वचन के लिए सामान्यतः—ए और—म्मि विभक्ति प्रत्यय (८.३.११) और सर्वनामों के लिए—स्सि, म्मि और त्थ (८.३.५९) विभक्ति प्रत्यय हैं किन्तु उनके प्राकृत व्याकरण में—अंसि विभक्ति प्रत्यय का उल्लेख नहीं है जो नाम और सर्वनाम दोनों में पाया जाता है। वररुचि के व्याकरण में भी ऐसा उल्लेख नहीं है।

2. गिरनार लेख ४.१० में इमम्हि और अथम्हि के साथ ४.९ में धंमम्हि का प्रयोग मिलता है। गिरनार में (२.२) विजितम्हि और (६.४) विनीतम्हि प्रयोग भी हैं। यह विनीतम्हि धौली और जोगड (६.२) में 'विनीतसि' और शाहवाजगढी और मानसेहरा में 'विनितस्पि' हो गया है।

अर्धमागधी में—अंसि विभक्ति प्रत्यय के उदाहरण हैं—लोगंसि, आचा. १.१.१.९ (म. जै. वि.), कंसि (पिशल ४२८) किन्तु पालि व्याकरण में नाम और सर्वनाम शब्दों में सप्तमी एक वचन के लिए—स्मि विभक्ति प्रत्यय का उल्लेख है और साहित्य में उसका प्रयोग भी मिलता है जबकि अशोक के शिलालेखों में पश्चिम के सिन्धु अन्वय क्षेत्रों में सप्तमी एक वचन के लिए—सि (स्सि) विभक्ति प्रत्यय मिलता है (मेहेण्डले पृ० १८३) ।

अर्धमागधी भाषा का—अंसि विभक्ति प्रत्यय इस तरह न तो व्याकरणों में, न पालि में और न ही अशोक के शिलालेखों में मिलता है । परन्तु ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी में दक्षिण प्रदेश के क्रिष्णा जिले में तेनाली तालुके के कौंडमुडि गांव से मिले राजा जयवर्मन के ताम्र-पत्र में—‘अंसि’ विभक्ति प्रत्यय ‘एतंसि’ शब्द में पाया जाता है । इस तरह वररुचि और हेमचन्द्राचार्य ने—‘मिह और—अंसि विभक्ति प्रत्ययों का सप्तमी एक वचन के लिए उल्लेख नहीं किया है परन्तु शिलालेखों से उनके प्रचलन का अनुमोदन होता है ।

ऊपर के विवरण के अनुसार सप्तमी एकवचन के विविध विभक्ति प्रत्ययों का विकास निम्न प्रकार से हुआ हो ऐसा साहित्यिक सामग्री, शिलालेखों और व्याकरणों से प्रमाणित होता है—

### सार्वनामिक विभक्ति प्रत्यय —

- (i) स्मिन् स्मि स्मि म्सि (अंसि)
- (ii) स्मि स्मि मिह् मि<sup>3</sup>

3. प्राकृत भाषा में अहम् के लिए अभिह, अभिम, म्मि के प्रयोग (हेमचन्द्र ८३ १०५) मिलते हैं और ये ‘अस्मि’ क्रियापद में से ही निकले हैं । ऐसा ही विकास—मि विभक्ति प्रत्यय का—स्मि में से हुआ है ।

(ii) स्मि स्मि स्मि

(iv) स्मि स्मिं स्मि सि

[ प्रत्ययों के इस भाषिक विकास-क्रम में कहीं कहीं पर लिपिदोष का भ्रम स् और म् के बीच स्पष्ट हो रहा है । ]

पालि साहित्य में —स्मिं और —म्हि (गाइगर ७८, ८२, ९५) प्रत्यय का प्रचलन रहा । व्याकरणकार मोग्गलान के अनुसार पालि में —स्मि प्रत्यय भी था (गाइगर ७९) । अशोक के शिलालेखों में —सि (स्मि) और —म्हि प्रत्यय मिलते हैं और तीसरी शताब्दी में दक्षिण में —स्मि (अंसि) प्रत्यय मिलता है । अर्धमागधी भाषा में —अंसि प्रत्यय मिलता है लेकिन व्याकरणकार हेमचन्द्र (८.३.५९) —स्मिं प्रत्यय का मात्र सर्वनाम के लिए ही उल्लेख करते हैं ।

विविध प्राकृत भाषाओं में —स्मि (अंसि), —स्मिं, —म्हि और (-अंसि) —स्मि प्रत्यय मिलते हैं (पिशल ३६६ अ और ४२५) । पिशल महोदय ने जैन शौरसेनी में मिलने वाले 'तम्हि' रूप को (४२५) गलत बताया है । हमारी दृष्टि से यह गलत नहीं होगा क्योंकि 'इमम्हि' रूप व्यन्त्रहारसूत्र में और —म्हि वाले प्रयोग कुन्द-कुन्द के साहित्य में मिलते हैं । —म्हि विभक्ति-प्रत्यय मात्र पालि भाषा का ही हो ऐसा एकांत दृष्टि से नहीं कहा जा सकता । कुछ प्रत्यय अमुक काल तक पालि और अर्धमागधी दोनों भाषाओं में समान रूप से प्रचलित रहे होंगे ऐसा कहना अनुपयुक्त नहीं होगा । अथवा ऐसा भी असंभव नहीं माना जा सकता कि उत्तरवर्ती लेहियों ने प्राचीन प्रत्ययों के स्थान पर उस समय में प्रचलित नये प्रत्ययों को रख दिया हो ।

ऊपर दिये गये अनेक विभक्ति प्रत्ययों में से —स्मि प्रत्यय

सबसे बाद का मालूम होता है, जिसकी उत्पत्ति ध्वनि—परिवर्तन के सिद्धान्त से स्पष्टतः—म्ह्रि में से हुई है और लेखन की असावधानी के कारण स और म के बीच (लिपि—दोष) से 'स' में 'म' का) भ्रम हो जाने से—'म्सि' का—'म्मि' या—'ंसि' का—'ंमि' में परिवर्तन होना भी अशक्य नहीं कहा जा सकता। अर्धमागधी के प्राचीन अंशों में—ंसि के स्थान पर—ंमि' 'म्मि' आ जाने का यह भी एक सबल कारण है।

इस सारे विवेचन से यह फलित होता है कि यदि प्राचीन अर्धमागधी साहित्य की प्रतियों में स. ए. व. के लिए -स्सिं, -स्सि, -स्मि या -म्ह्रि प्रत्यय मिलते हो तो उन्हें गलत मानकर उनके स्थान पर -ंसि और -म्मि का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

इस संदर्भ में प्राकृत भाषा की प्राचीनतम कृति से एक उदाहरण देना अनुपयुक्त नहीं होगा जिसमें सप्तमी एकवचन का—स्सिं प्रत्यय एक पाठान्तर के रूप में—अंसि के स्थान पर आचारांग में मिलता है—लोगस्सिं (सं. खं जै प्रतियों के अनुसार, १.८.३.२०९, पृ० ७५, म. जै. वि. संस्करण)।

आचार्य हेमचन्द्र के द्वारा—स्सिं विभक्ति प्रत्यय सर्वनाम के लिए दिया गया है और यह उदाहरण नामिक विभक्ति प्रत्यय का है। अर्धमागधी भाषा के प्राचीन लक्षणों के बारे में अल्प जानकारी के कारण हमारे लेहियों अथवा संपादकों के हाथ कितने ही प्राचीन

4. म्वाउसे—इस्मिभा. २६. प. १ (पाठान्तर—म्वाउसे)।

सिसिरंसि—आचा, १.९.४.३०९ (पाठा. सिसिरंसि, सं. खे, जै)

आचा. (मजैवि.) सूत्र १ के 'सुय' मे आउस' के 'सुय' शब्द में जेसलमेर की एक वि सं. १४८५ की ताडपत्र की प्रति में 'सुय' का भ्रम होता है।

विभक्ति प्रत्यय और क्रिया प्रत्यय साहित्य में से लुप्त हो जाने की शंका होती है । जैसे आ० श्री हेमचन्द्र ने पंचमी एकवचन के लिए (स्मात्) -म्हा विभक्ति प्रत्यय के साथ कम्हा, जम्हा, तम्हा इत्यादि रूप तो (८.३.६६) दिये हैं परन्तु (-स्मिन्) -म्हि विभक्ति प्रत्यय का कोई उल्लेख तक नहीं किया है जो साहित्य में यत्र तत्र मिलता है । हो सकता है इसे पालि का विभक्ति प्रत्यय समझकर मान्य नहीं रखा हो । जब व्याकरण-ग्रंथ में उसे मान्यता नहीं मिली हो तब तो ऐसे विभक्ति प्रत्यय का प्रयोग प्राचीन प्रतों में कहीं कहीं पर मिला भी होगा तो उसका सामान्यतः त्याग ही कर दिया गया होगा ऐसा कहना अनुपयुक्त नहीं होगा ।



## १२ कुछ अन्य विभक्ति प्रत्यय

प्राकृत भाषा के कतिपय विभक्ति-प्रत्यय जो प्रारंभ में अनुस्वार-रहित थे उनमें उत्तरवर्ती काल में अनुस्वार का आगम हुआ और जो अनुस्वार-युक्त था उसमें से अनुस्वार का लोप हुआ । कालक्रम से दोनों प्रकार के प्रत्यय भाषा के अभिन्न अंग बन गये ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है । उनके इस प्रकार के विकास के बारे में निम्न विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

### १. नपुं. प्रथमा-द्वितीया बहुवचन

नपुंसकलिङ्ग प्रथमा और द्वितीया ब. व. के लिए वररुचि के प्राकृत-प्रकाश के द्वारा—इ प्रत्यय दिया गया है ।

इज्जशसोदीर्घश्च —5.26

उदाहरण — वणाइ, दहीइ, मइइ

सूत्र नं. 6.23 की वृत्ति में दिये गये 'अमूइं, वणाइं' के अनुसार और कविल द्वारा दिये गये 'वणाइं' उदाहरण के अनुसार (पृ 51, पा. टि. 11) —इं प्रत्यय भी बनता है ।

शौरसेनी के लिए दिये गये सूत्र में—णि प्रत्यय भी मिलता है ।

णिर्जशसोर्वा क्लीवे स्वरदीर्घश्च 12.11

उदाहरण — वणाणि

अर्थात् शौरसेनी में—णि और महाराष्ट्री प्राकृत में—इ और—इं । इसका अर्थ यह हुआ कि महाराष्ट्री से शौरसेनी पुरानी भाषा

है, अतः —णि प्रत्यय पुराना है और —इ, —इँ उत्तरवर्ती हैं ।  
हेमचन्द्राचार्य ने तीन —णि, —इ और —इँ प्रत्यय दिये हैं ।

जस्—शस इँ—इ—णयः सप्राग्दीर्घाः—8.3.26, उदाहरण—वयण्णइँ,  
'पङ्कयाइ', दहीइँ, मडूइ, पङ्कयाणि, दहीणि, मडूणि

सूत्र नं. 8.1 34 के उदाहरण इस प्रकार हैं—

गुणाइँ, गुणाइँ और देवाणि

अर्थात् उनके अनुसार प्राकृत में तीनों प्रत्यय — णि, इँ और  
इँ चलते हैं ।

## २. पुंलिंग-नपुंसकलिंग अकारान्त तु. ए. व.

पुं. तु. ए. व. का विभक्ति-प्रत्यय प्राकृत-प्रकाश के अनुसार  
—एण मात्र है, उदाहरण —वच्छेण

टामोर्णः 5.4

परंतु काविल महोदय के सूत्र 4.16 पर के टिप्पण के  
अनुसार—एण का—एणं भी होता है ।

आचार्य श्री हेमचन्द्र ने —एण और —एणं दोनों प्रत्ययों का  
उल्लेख किया है ।

टा—आमोर्णः 8 3 6 और क्त्वा—स्यादेर्णः स्वोर्वा 8 1 27

उदाहरण—वच्छेणं, वच्छेण

वररुचि सिर्फ —एण प्रत्यय दे रहे हैं जबकि हेमचन्द्र —एण  
और —एणं दोनों प्रत्ययों का उल्लेख करते हैं ।

## ३. तृतीया बहुवचन

प्राकृत-प्रकाश में तु. ब. व. के लिए मात्र —हि प्रत्यय का उल्लेख है ।

भिसो हिं —5.5; उदाहरण—वच्छेहिं

व्याकरण की वृत्ति में सर्वनाम के प्रकरण में—हि प्रत्यय भी मिलता है — तीहि—6.55, पुनः 6.61 में अग्गीहि, वाऊहि, इत्यादि उदाहरण भी मिलते हैं जबकि उनके ही पाठान्तर में—हिं मिलता है।

हेमचन्द्राचार्य के अनुसार—हि, —हिं और —हिं<sup>०</sup> तीन प्रत्यय हैं।

भिसो हि हिं हिं<sup>०</sup> 8.3.7

उदाहरण—वच्छेहि, वच्छेहिं<sup>०</sup>, वच्छेहिं

#### ४. षष्ठी बहुवचन

वररुचि के प्राकृतप्रकाश के अनुसार षष्ठी बहुवचन का विभक्ति प्रत्यय -ण है।

टामोर्णः 5.4 उदाहरण—वच्छाण

पाठान्तर में—णं मिलता है (कॉवेल, पृ. 39)।

सूत्र नं. 5.11 में भी—वच्छाण रूप है।

हेमचन्द्राचार्य के अनुसार भी—ण प्रत्यय है।

टा-आमोर्णः—8.3.6, उदाहरण—वच्छाण

—ण के बदले—णं का स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

#### ५. सप्तमी बहुवचन

प्राकृतप्रकाश में स. ब. व. के लिए मात्र—सु प्रत्यय दिया गया है। सुपः सुः—5.10, उदाहरण— वच्छेसु

अन्य उदाहरणों में—तुञ्जेसु, तुम्हेसु 6.30, अम्हेसु 6.53, दोसु 6.54 और वच्छेसु 6.63 मिलते हैं। पाठान्तर में दोसुं 6.54 भी मिलता है।

हेमचन्द्राचार्य के अनुसार —सु ४.3.15 और —सु 8.1.27 दोनों ही प्रत्यय मिलते हैं ।

उदाहरण —वच्छेसु और वच्छेसुं

व्याकरणकारों ने जो विभक्ति प्रत्यय दिये हैं उनके परिप्रेक्ष्य में प्राचीन रूपक साहित्य, प्राकृत शिलालेखों तथा प्राचीन प्राकृत साहित्य में ये प्रत्यय किस प्रकार मिलते हैं उनका विवरण निम्न प्रकार से दिया जा सकता है ।

### प्राचीन रूपक साहित्य

कुछ प्राचीन रूपकों \* में ये विभक्ति—प्रत्यय जिस प्रकार मिलते हैं उनमें से निम्न तालिका के अनुसार—आणि, —हि, —णं, —सु प्राचीन प्रत्यय हैं जबकि—आइ, हिं, —ण, —सु उनके उत्तरकालीन रूप हैं और

---

\* See my article : 'Study of Pakrrits in Classical Dramas : Their Stages in Some Early Dramas', Vidya, C-Languages, Vol. XXIII, No. 2, Guj Univ. Aug 1980 The table is reproduced.

कारक	शारिपुत्र- प्रकरणम्	स्वप्न - वासवदत्तम्	विक्रमोर्वशीयम्	मृच्छकटिकम्
१. न.पुं. प्र. व. व.	—	-आणि	-आणि, आइं	-आइं
२. ट. व. ब.	- हि	-हि (बहुधा) -हि (कभी-कभी)	-हि -हि (बहुधा)	-हि
३. ष. ब. व.	- नां	-णं	-णं	-णं, -ण
४. स. व. व.	—	-सु	-सु -सु *	-सु -सु

\* \* = शाकुन्तलम् के प्रयोगों के अनुसार

स्वप्नवासवदत्तम् तथा मृच्छकटिकम् में तृ. ए. व. के लिए सिर्फ  
—एण प्रत्यय ही मिलता है ।

## प्राचीन शिलालेख

प्राचीन शिलालेखीय प्रयोगों से यह फलित होता है कि प्रत्ययों में अनुस्वार का आगम या लोप उत्तरवर्ती प्रवृत्ति है । प्रो. मेहेण्डले<sup>1</sup> के अध्ययन का सार यह है कि प्राचीन शिलालेखों में नपुं. प्रथमा—द्वितीया ब. व. के लिए सर्वत्र सामान्यतः—आणि प्रत्यय का प्रयोग हुआ है (पश्चिम में प्रथम शताब्दी से और दक्षिण में तृतीय शताब्दीसे—आणि का प्रयोग) । —आइं प्रत्यय का कहीं पर भी उल्लेख नहीं है । पुलिग—नपुं. अकारांत शब्द के तृतीया ए. व. का प्रत्यय—एनं सर्वत्र मिलता है (पश्चिम और मध्य क्षेत्रमें दूसरी शताब्दी ई. स. पूर्व से, उत्तर-पश्चिम में प्रथम शताब्दी ई. स. पूर्व से और दक्षिण में दूसरी शताब्दी से—एण प्रत्यय मिलता है) । तृतीया ब. व. का विभक्ति प्रत्यय—हि सर्वत्र<sup>3</sup> मिलता (पृ 241) है । सप्तमी ब. व. का प्रत्यय सर्वत्र—सु मिलता है (पृ. 241, 244, 245, 247, 249, 250) । ष. ब. व. का प्रत्यय सामान्यतः—नं है और कभी कभी सर्वत्र—न भी मिलता है (—नकार का—णकार पश्चिम में दूसरी शताब्दी ई. स. पूर्व से मिलने लगता है, पृ. 241 इत्यादि) ।

1. Historical Grammar of Inscriptional Prakrits by M. A. Mehendale, Poona, 1948, p. 284 ff.

2. वही, ई. स. पूर्व दूसरी या प्रथम शताब्दी के मध्य भारत के एक शिलालेख में—एण प्रत्यय (हारितीपुतेण) मिलता है (पृ. 173) ।

3. वही, चतुर्थे शताब्दी के बासिम के शिलालेखों में—हि प्रत्यय मिलता है (लिखितेहि, आहमेहि—पृ. 173, 180)

## प्राचीन प्राकृत काव्य साहित्य गाथा सप्तशती \*

- (i) गाथा सप्तशती में नपुंसकलिङ्ग प्रथमा—द्वितीया ब. व. के लिए—आणि प्रत्यय नहीं मिलता है। प्रचलित प्रत्यय—आइँ और (छन्द के नियमन के लिए)—आइँ मिलते हैं। गाथा नं 722 में—आइ प्रत्यय भी मिलता है।
- (ii) तृतीया एक वचन के लिए प्रचलित प्रत्यय—एण है जो पाद के अन्त में भी मिलता है (जहाँ पर दीर्घ मात्रा की आवश्यकता होती है)। मात्राओं के नियमन के लिए—कएणं(524), [पादएणं (766), अणुज्जुएणं (783), णामेणं (787), दंतोद्वेणं (795), वलाहारेणं (805), लोअणेणं एवं माणसेएणं (822)] और एक जगह दंसणेणं (610) भी मिला है। 700 के बाद की प्रक्षिप्त गाथाओं में—एणं प्रत्यय अधिक मात्रा में मिलता है।
- (iii) तु. व. व का प्रचलित प्रत्यय—हिँ है जबकि—हिँ—हि कम मात्रा में मिलते हैं।
- (iv) ष. ब. व. का प्रचलित प्रत्यय—णँ है, उसके बाद—णं की बारी आती है—ण प्रत्यय कभी कभी ही, जैसे—अण्णण (89, 470) मिलता है। इस—ण प्रत्यय की संख्या 700 के बाद की गाथाओं में बढ़ जाती है (746, 764(3), 767, 809(5), 860, 861, 936, 941)।
- (v) स. ब. व. का चालू प्रत्यय—सु है, सिर्फ एक बार—सुं (वणेसुं—77) मिल सका है।

\* संवा. स. आ. जोगळेकर, प्रसाद प्रकाशन, पुणे, 1956

### सेतुबन्धम् \*

- (i) नपु. प्र. द्वि. ब. व. के लिए—आणि प्रत्ययवाला एक भी प्रयोग नहीं मिला है। प्रचलित प्रत्यय—आइं और—आईं हैं। दो चार प्रयोग—आइ के भी मिलते हैं (रअणाइ 2.14, रक्खसाइ, तुरआइ, पवआइ 15.17)।
- (ii) तृतीया ए. व. का बहु प्रचलित विभक्ति प्रत्यय—एण ही है। कभी कभी मात्राओं के नियमन के लिए आठ—दस प्रयोगों में अनुस्वार युक्त—एणं मिलता है (णिम्माणएणं 3.45, लोअणेणं 3.47, अंसेणं 3.55, अइसएणं 4.35, इत्यादि)।
- (iii) तृतीया बहुवचन का प्रचलित विभक्ति प्रत्यय—हि है (वाणरेहि 15.4)। कभी कभी—हिं और—हिं भी मिलते हैं (अम्हेहिं 3.32, णईंहिं 2.16)।
- (iv) षष्ठी ब. व. का प्रचलित प्रत्यय—णं है, कभी कभी मात्राओं के नियमन के लिए—ण भी मिलता है (वाणराण 2.45, वहन्ताण 3.26, रामचरणाण 8.28, णईण 8.65, सुरवहूण 15.78) और बहुत कम प्रयोग—णं के भी मिलते हैं। (कलहंसाणं 1.23, दिसाणं 1.24, वाणराणं 1.55)।

प्राकृत—प्रकाश के सूत्र नं. 4.16 पर टिप्पण करते हुए काविल महोदय का यह मत है कि वृत्त के भंग को बचाने के लिए नपु. प्र. द्वि. ब. व., तृ. ए. व., और तृ. ब. व. के प्रत्ययों में अनुस्वार का आगम या लोप होता है। इसका अर्थ यह होता है कि—आणि, —एण, —हि—णं और—सु प्राचीन प्रत्यय थे और उत्तरवर्ती काल में पद्यात्मक रचनाओं में छन्द के नियमन के लिए उनमें अनुस्वार का आगम या लोप होने लगा।

\* संज्ञा. पं. शिवदत्त, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1935



पिशल महोदय के कथनानुसार भी यही फलित होता है कि—एण प्राचीन प्रत्यय है और—एण उत्तरकालीन है। उनका कहना है कि (363) मामधी, शौरसेनी, पैशाची, चूलिका—पैशाची और जैन शौरसेनी में सिर्फ—एण (तृ. ए. व.) प्रत्यय मिलता है जबकि महाराष्ट्री, जैन महाराष्ट्री और अर्धमागधी \* में—एण और—एण दोनों प्रत्यय मिलते हैं।

वसुदेवहिंडी और पउमचरियं महाराष्ट्री प्राकृत की प्राचीन जैन रचानाएँ हैं अतः उनमें प्रयुक्त इन विभक्ति प्रत्ययों की क्या स्थिति है यह जानना उपयोगी होगा।

### वसुदेवहिंडी

यह एक गद्यात्मक रचना है जिसमें मात्राओं के नियमन के लिए अनुस्वार के आगम या लोप की आवश्यकता नहीं रहती। इस रचना के प्रथम खण्ड के प्रथम अंश के 1-16 पृष्ठों (400 श्लोक—प्रमाण) का विश्लेषण इस प्रकार है।

1. नपुं. प्र. द्वि. ब. व. का बहु प्रचलित विभक्ति प्रत्यय—आणि है। सिर्फ चार—पाँच प्रतिशत—आइं मिलता है, उदाहरण—फलाणि 2.22, ताणि 3.25, दिट्ठाणि 11.8, वंजणाणि 14.22, जुद्धाणि 16.2, एवं एयाइं 3.25, सधणाइं 11.9
2. तृतीया ए. व. (पुं. नपुं. अकारान्त) का चाळ प्रत्यय—एण है, कभी कभी लगभग 10 से 12 प्रतिशत—एण पाया

\* इसमें प्राचीन और उत्तरकालीन दोनों प्रकार की अर्धमागधी का समावेश हो जाता है सिवाय कि पद्यात्मक अंशों में ऐसे प्रयोग जहाँ पर वृत्त-भंग से बचने के लिए अनुस्वार-सहित या अनुस्वार-रहित प्रत्यय की आवश्यकता हो।

गया है, उदाहरण —तेण 2.23, कलेण 6.1, घणेण 13.11, एएण 16.13 और एएणं 4.19, जंबुनामेणं 6.19, रहस्सेणं 11.15, सयणेणं 16.6

3. वृ. व. व. का प्रचलित प्रत्यय —हि पाया गया है । —हि के प्रयोग 10 प्रतिशत ही मिले हैं, उदाहरण —अम्हेहि 5.8 चोरेहि 13.19, तेहि 13.8, एवं तेहि 4.30, लच्छीहि 7.6, दोहि 9.26

4. षष्ठी व. व. का चालू प्रत्यय —णं है, लगभग 15 प्रतिशत —ण भी मिलता है, उदाहरण —जणाणं 12.7, सव्यवाहाणं 6.27, एवं गणिजाण 11.8 और चोराण 16.21

5. सप्तमी व. व. का सिर्फ —सु प्रत्यय ही पाया गया है, उदाहरण —अमरेसु 3.4, अकीतेसु 6.20, नगरेसु 15.5 और अमरेसु 17.8

### पउमचरियं

यह एक पद्यात्मक रचना है अतः छन्द में मात्राओं के नियमन के लिए अनुस्वार का आगम और लोप आवश्यक था । इस दृष्टि से इसके उद्देश 2, 3, 71 और 106 (398 गायकों) का विश्लेषण इस प्रकार है ।

1. पुं. नपुं प्र. द्वि. व. व. का प्रचलित प्रत्यय —आइं है, पाद के अन्त में भी यह प्रत्यय मिलता है । इस ग्रंथ में —आइं 31 बार, —आइँ 8 बार और —आणि 6 बार मिला है ।  
उदाहरण —अणुव्वयाणि 2.86, दिवसाणि 3.67, अन्नाणि

106.19, निययाइँ 2.97, आसणाइँ 3.71, कमलाइँ 2.99, सहस्साइ 3.23, दुक्खाइँ 106.42, पदान्त में ठाणाइँ 2.97, पल्लाइँ 3.36, वहन्ताइँ 71.23, दुट्ठवयणाइँ 106.17

2. पु. नपु. त्. ए व. का प्रचलित विभक्ति प्रत्यय -एण है जो 97 बार मिला है। -एणं 55 बार मिला है जिसमें से पादान्त में 46 बार मिलता है। पादान्त में -एण भी चार बार प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण—वीरेण 2.104, रामेण 3.10, तेण 3.106, कमेण 71.1 कणयरहेण 106.2, केण 106.18 और जिणवर-घम्मेण 2.106, तेणं 3.68, सिरिसेलेणं 71.44; पादान्त में भावेण 2.81, समणरूवेण 3.142; भावेण 2.98; तेएणं 3.4, जेणं 3.54, नीलेणं 71.35, पयत्तेणं 106.24

3. त्. व. व. का प्रचलित विभक्ति-प्रत्यय -हि है जो 34 बार मिला है, -हिं 25 बार जिसमें से पादान्त में 15 बार मिला है। उदाहरण—

दुक्खेहि 2.75, एएहि 3.38, सरेहि 71.68, अम्हेहि 106.11; तिहिं 106.14

पादान्त में गुणेहिं 2.117, हत्थेहिं 3.96, मेहेहिं 71.33

4. ष. व. व. का प्रचलित प्रत्यय -णं है जो 59 बार मिला है जबकि -ण 42 बार मिला है। पादान्त में -णं 30 बार मिला है। उदाहरण, गन्धव्वाणं 3.31, ताणं 106.7; ताण 2.63, रक्खसाण 3.31, आउहाण 71.2, अड्कुसाण 106.13, पादान्त में सुरव्वारणं 2.57, पणवाणं 3.87, वहन्ताणं 71.71, पत्ताणं 106.28

5. स. व. व. का प्रत्यय —सु है जो 83 बार मिला है, सिर्फ 1 बार -सुं मिला है, ठाणेसुं 3.24; पादान्त में भी —सु ही प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण—बहुएसु 2 112, अङ्गेसु 71.21 —काम-भोगेसु 106.38

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि महाराष्ट्री प्राकृत की पद्यात्मक रचनाओं में —आणि का —आइं हो गया और मात्राओं के नियमन के लिए अन्य प्रत्ययों में अनुस्वार का आगम या लोप होने लगा। वसुदेव—हिण्डी पर (गद्यात्मक रचना) इस उत्तरवर्ती परिवर्तन का प्रभाव दिखता है। उसमें —हिं की बहुलता है और कभी कभी —आइं—एणं और —ण प्रत्यय भी मिलते हैं।

अर्धमागधी आगम साहित्य में इन प्राचीन और उत्तरवर्ती विभक्ति—प्रत्ययों का प्रयोग वैकल्पिक हो गया हो ऐसा प्रतीत होता है। इस बात की पुष्टि नीचे दिये गये उदाहरणों से हो रही है।

आगम ग्रंथों के जिन संस्करणों से उदाहरण यहाँ पर दिये जा रहे हैं उनमें स्वीकृत पाठ अमुक अमुक प्रतियों से लिये गये हैं। अस्वीकृत पाठ पाठान्तर के रूप में दिये गये हैं जिनके सामने प्रतियों के नामों का उल्लेख है अतः स्वीकृत पाठों के सामने अन्य प्रतियाँ समझ ली जानी चाहिए। नीचे प्रतियों का परिचय\*

● प्रतियों का परिचय

- (क) आचारांग (म. जै. वि.) के सम्पादन में उपयोग में ली गयी प्रतियाँ  
ताडपत्र

सं. संवती पाडा ज्ञानभंडार, पाटन, वि. सं. १३ वीं शती का उत्तरार्ध  
शां. श्री शांतिनाथ ताडपत्रीय जैन ज्ञान भंडार, खंभात, वि. सं. १३०३  
खं. " " " " " " वि. सं. १३२७



(iii) वीरेहि 1.33.

(iv) अणगाराणं 1.14, 25, 26, 36, 44, 52, 59; माणवाणं 1.64  
67, 77, धूलाणं; दासीणं; कम्मकरीणं 1.87; संसारपडि-  
वण्णाणं 1.134; अणियट्टगामीणं 1.141, वीरेण 1.143, आतो-  
वस्ताणं 1.146, आरूसियाणं 1.256, इत्यादि ।

(v) रूवेसु 1.41, दिसासु 1.49, 103, 1.37, एतेसु 1.89,  
तेसु 1.92, सद-रूवेसु 1.108, पयासु 1.119, उवरतदंडेसु  
1.132, सोवधिणसु 1.132, इत्यादि ।

### सत्रकृतांग

(i) उच्चावयाणि 1.1.1.27, सयणाणि 1.3.2.17, बीयाणि 1.3.4.3,  
सदाणि 1.4.1.6, केसाणि 1.4.2.3, भूताणि 7.8, सव्वे-  
दियाणि 8.17, सव्वाणि 9.36, महब्भयाणि 10.21 पाव-  
कम्माणि 15.6, अंताणि 15.15

(ii) परित्ताणेण 1.1.2.6, सुहुमेण 1.4.1.2, ईसरेण 1.1.3.6, मोहेण  
1.3.1.11, कासवेण 1.3.2.14; 15.21, मिच्छत्तेण 1.3.3.18,  
उदएण 1.3.2.41, उसीरेण 1.4.2.8, नाणेण 1.6.17, 18,  
वियडेण 1.7.21, केण 8.1, दुक्खेण 10.4, अण्णेण 10.6,  
सच्चेण 15.3

पु. १. मुनि श्री पुण्यविजयजी का संग्रह, वि. सं. १७१४.

पु. २. ,, ,, ,, वि. सं. अंदाजन १६वीं शती  
ला. लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद  
सं. जैन ज्ञान भंडार, सविगी उपाधय, हाजा पटेल पोल, अहमदाबाद

(ग) ऋषिभाषितानि (शुब्रिंग), ला. द. भा. सं. वि. मन्दिर, अहमदाबाद,  
ई. स. १९७४

प्र. प्रत्यान्तरे = P, H और D.

- (iii) ढंकेहि 1.1.3.3, कसायवयणेहि 1.3 1.15, णायएहि 1.8.12, सुहीहि 1.8.12. हत्थेहि, पाएहि 10.2
- (iv) अण्णाणं 1.1.3.5, भिक्खूणं 1.3.2.1, पंथाणं 1.3 3.5 कुसीलाणं 1.4 1.12, जिणाणं 1.6.7, पाणिणं 1.8.4, बुद्धाणं 1.9.32, दुक्खाणं 15.17, सव्वसाहूणं 15.24
- (V) सेज्जासु 1.1.4.11, इत्थीसु 1.3.2.22, इत्थीपोसेसु 1.4.1.20, रुक्खेसु 1.6.18, एतेसु 1.7.2;10.5, हरितेसु 1.9.19, आरंभेसु 1.9.35, अणियाणभूतेसु 10.1, पयासु 10.4, पावएसु 10.5, अमणुस्सेसु 15.16

### ऋषभापितानि

- (i) पिट्टणाणि तज्जणाणि 9 पं. 5, णाणदंसणचरित्ताणि 24 पं. 11 कम्माणि 2.5, दुक्खाणि 2.7, अण्णमण्णाणि, गहणाणि 4.5 पावकम्माणि 9.15, दुक्खाणि 15.1, इन्दियाणि 16.3
- (ii) देवनारदेण 1 पं. 3, वज्जियपुत्तेण 2 पं. 1, महाकासवेण 9 पं. 2, अमच्चेण 10 पं. 10, तरुणेण 21 पं. 2, केण वा अट्टेण 31 पं. 3,4, माहपरिणन्वायणेण 37 पं. 2 अण्णाणेण 2.8; 21.7,8,9, संकप्पेण 4.11, ज्ञाणेण 9.25 पडियारेण 15.8, णाणजोगेण 21.10, जेण 24.18, जग्गिएण 35.17, सुत्थेण 38.1, सत्थेण 45.18, भावेण 45.25

- (घ) उत्तराध्ययनसूत्र के (म. जै वि.) संपादन में उपयोग में ली गई प्रतियाँ  
 सं १. श्री संघवीपाडा जैन ज्ञान भंडार, पाटण, वि. सं ११८९  
 ( ताडपत्र )  
 सं २. श्री संघवीपाडा जैन ज्ञान भंडार, पाटण, वि. सं १२३२ (ताडपत्र)  
 पु. श्री लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद,  
 (कागज की प्रति) १६वीं शती

(iii) कम्मेहि 2.3, गलेहि 21.2, सामभेयक्कियाहि 24.12,  
भासापणइएहि 41.12, पुप्फादिहि 45.53

(iv) सव्वदुक्खाणं 21 पं. 9, जीवाणं 31 पं. 8, पुग्गलाणं 31  
पं. 10, सरीराणं 9.14, सव्वदुक्खाणं 15.28, संजोगाणं 21.9  
पमत्ताणं 35.20, णराणं 41.1, माणवाणं 45.1, पुप्फाणं  
45.53

(v) मणुण्णेषु सद्देषु 16 पं. 4,5,7, रुव्वेषु गंधेषु रसेषु फासेषु  
16 पं. 9, 38 पं. 2, सव्वत्थेषु 1.2, सिक्खागतीसु 9.16, गामेषु  
22.7, कूडेषु 26.9, सद्देषु 38.5, णरएसु, कामेषु 45.1

### उत्तराध्ययन

(i) निरत्थाणि 1.8, पंतानि 8.12, अट्टालगाणि 9.18,  
वद्धमाणगिहाणि 9.24, पंचिदियाणि 9.36, खेत्ताणि 12.13,  
कम्माणि 13.26, महालयाणि 13.26, एयाणि 5.21,  
जालाणि 14.36, सुयाणि 19.11, पंचमहव्वयाणि 19.11  
मरणाणि 19.16,47, सारभंडाणि 19.23, सोढाणि 19.47,  
भीमाणि 19.47, जम्माणि 19.47, सीसगाणि 19.69,  
सोल्लगाणि 19.70, मधूणि 19.71, रुहिराणि 19.71  
वल्लराणि 19.81, सराणि 19.81, आभरणाणि 22.20,  
सव्वाणि 22.20, तणाणि 23.17, इंदियाणि 23.38

ला १. श्री लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद  
(कागज की प्रति) वि. सं १५२५

ला २. श्री लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद  
(कागज की प्रति) १६ वीं शती

ह. मुनि श्री हंसविजयजी के संग्रह की प्रति



(ii) कालेण 1.10, 31(2).32, 14.52, संजमेण 1.16, तवेण 1.16, अंतरेण 1.25, सीएण 1.27, फरुसेण 1.27, प्रडिरुवेण 1.32, पत्तिएण 1.41, जेण 8.1, तेण 8.16, कुसग्गेण 9.44, संकप्पेण 9.49, घणेण 14.17, सयणेण 14.17, केण 14.22, माहणेण 14.38, अचिरेण 14.52, संजमेण 19.78, तवेण 19.78, नाणेण 19.25, 22.26, चरणेण 19.95, दंसणेण 19.95, तवेण 19.95, अंकुसेण 22.46,

(iii) परेहि 1.16, पओसेहि 8.2, सबलेहि 19.55, पट्टिसेहि 19.56, मुसलेहि 19.62, पसत्थेहि (गद्य) 29.1109

(iv) अगारेसु 1.26, सग्ग्वेसु 8.4, कामजाएसु 8.4, रक्खसेसु 8.18, नारीसु 8.19, पासादेसु 9.7, भोगेसु 9.02, जंतुसु 14.42, कामेसु 14.45, तसेसु 19.90

(गद्यांश) तिरिच्छएसु 29.1104, कामभोगेसु 29.1104, पवयण-मायासु 29.1113, रसेसु 29.1166-68, फासेसु 28.1166-68

- शा. श्री जाल शार्पेन्डीयर का संस्करण, ई. स. १९२१-२२  
 पा. श्रेष्ठ देवचन्द्र लालभाई, सुरत द्वारा प्रकाशित आचार्य श्री शान्तिसूरिकृत पाइयटीका, ई. स. १९१६-१७  
 ने. शैठ पुष्पचन्द्र खेमचन्द्र वणाद, गुजरात द्वारा प्रकाशित आचार्य श्री नेमिचन्द्रसूरि कृत उत्तराध्ययन सूत्र की टीका, ई. स. १९३७

(ड.) दशवैकालिकसूत्र (म. जौ. वि.) के संपादन में उपयोग में ली गईं प्रतिर्थां  
 खं १ श्री शान्तिनाथ जैन ताडपत्रीय ज्ञान भंडार, खंभात, १३ वीं शती का पूर्वार्ध  
 खं २ श्री शान्तिनाथ जैन ताडपत्रीय ज्ञान भंडार, खंभात, १४ वीं शती का उत्तरार्ध

## दशवैकालिक सूत्र

(i) अभिहडाणि 3.2, उव्वट्टणाणि 3.5, आउस्सरणाणि 3.6, पउमगाणि 6.63, पव्वयाणि, वणाणि 7.26, तित्थाणि 7.37, एयाणि 8.16, मित्ताणि 8.37, आसणाणि 9.2.17, दुरुद्धराणि 9.3.7, महच्चभयाणि 9.3.7, सव्वाणि 10.19.

(ii) तेण 1.5, अंकुसेण 2.10, संजमेण 3.15, तवेण 3.15, हत्थेण, पाएण 4.18, नमोक्कारेण 5.1.124, नायपुरत्तेण 5.2.49;6.20,25, पत्तोण 6.37, तिविहेण 6.26,43;8.4, सीण्ण उस्सिणेण 6.62, एएण 7.13, अन्नेण 7.13 नामधेज्जेण 7.17, अनिलेण 10.3

(iii) सव्वबुद्धेहि 6.22, बुद्धेहि 7.2

(iv) महेशिणं 3.1, जीवनिक्कायाणं 4.10, भासाणं 7.1

(v) पुप्फेसु 1.2, अहागडेसु 1.4, भोगेसु 2.11, गिम्हेसु 3.12, हेमंतेसु 3.12, देवलोगेसु 3.14, कंसेसु, कंसपाएसु, कुंडमोएसु 6.50, भिलुगासु 6.61, गहणेसु 8.11, रसेसु 10.17

अलग अलग हस्तप्रतों में उसी शब्द—रूप के लिए अनुस्वार— सहित या अनुस्वार—रहित विभक्ति प्रत्ययों के प्रयोग

ख ३ श्री शांतिनाथ जैन ताडपत्रीय ज्ञान भंडार, ख भात, १४ वीं शती का उत्तरार्ध

ख ४ श्री शांतिनाथ जैन ताडपत्रीय ज्ञानभंडार, ख भात, १४ वीं शती का उत्तरार्ध

जे. श्री जितभद्रसूरि जी. ज्ञानभंडार, जेसलमेर, वि सं १२८९ (ताडपत्र)

शु. शुत्रिग और डॉ. डायमेन का संस्करण  
नपा. सकेत अस्पष्ट

## आचारांग

- (i) कूराइं कम्माइं 1.82, (कूराणि कम्माणि— सं, शां, खं, खे जै), आसणगाइं 1.294 (आसणयाणि खे, जै, दुच्चराणि 1.298 (दुच्चराइं—हे २, ३, इ, ला, दुच्चराणि—खं, सं, हे १) मंसूणि छिण्ण—पुव्वाइं 1.303 (मंसूणि छिन्नपुव्वाणि— चू.)
- (ii) समारंभेणं 1.14, 50, 52 (समारंभेण—आगमोदय) सव्वसमंण्णगत-पण्णणेणं 1.62, (—पण्णणेण—सं, खे, जै), परितावेणं 1.63, (परियावेणं हे २, ३, इ, ला.), तिविधेणं 1.79 (तिविधेणं हे १, २, ३, इ, ला)
- (iii) वीरेहिं 1.33 (वीरेहिं, शां, हे २, ३, ला.), परिहायमाणेहिं 1.64 (परिहायमाणेहिं— चू.), धीभि 1.84 (धीहिं— शी. पृ. 62ब)
- (iv) मिहुकहासु 1.263 (मिधोकहासुं हे १)

## सूत्रकृतांग

आरंभाइं न 1.1.2.11 (आरंभाणि खं १), पावकम्माणि 1.15.6 (पावकम्माइं खं २, पु १, २, ला.), नायएहिं 1.8.12 (नायएहिं पु २)

## ऋषिभाषितानि

अमच्चेणं 10. पं. 12 (अमच्चेण प्र.), णाणेणं 23. पं. 7 (णाणेण प्र.), पावेहिं कम्मेहिं 4. पं 3 (पावेहिं कम्मेहिं प्र.) साधूहिं 33.8 (साधूहिं प्र.), कूडेसु 26.9 (कूडेसुं प्र.)

अचू. श्री अगस्त्यसिंहगणि विरचित दशवैकालिक की चूर्णि

अचूपा. श्री अगस्त्यसिंहगणि विरचित दशवैकालिक सूत्र की चूर्णिका पाठ-भेद

वृ. दशवैकालिक सूत्र का वृद्धविवरणम्

आ. श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी (रतलाम) द्वारा प्रकाशित वृद्धविवरण

### उत्तराध्ययन

- (i) अत्थजुत्ताइं 1.8 (अट्टजुत्ताणि सं २, पु, ला १, २), पावइं  
कम्माइं 12.40 (पावाणि कम्माणि ह.), भीमाणि 19.47  
(भीमाइं सं १), कम्माणि महालयाणि 13.26 कम्माइं  
महालयाइं सं २, पु, ला १, शा.)
- (ii) कुसग्गेण 9.44 (कुसग्गेणं पु. ला १, २, ह, पा, ने)  
कोहेणं 9.54 (कोहेण सं १), वद्धमाणेणं 23-12,23  
(वद्धमाणेण सं १)
- (iii) अणेगाणं 23-35 (अणेगाण सं २, ह, शा, पा, ने)
- (iv) अगारेखु 1.26 (अगारेखुं पु. ला १, २, पा.) तसेखु 19.90  
(तसेखुं ला १, २)  
मात्रा-नियमन के लिए अनुस्वार का आगम या लोप  
(अनुष्टुप् छन्द में) आवश्यक

### सत्रकृतांग

जेहिं नारीण संजोगा 1.3.4.17

### ऋषिभाषितानि

भोयणं भिज्जएहिं वा 45.52

ततो कम्माण संतती 2.5 विसपुप्फाण छड्डणं 9.17, आताकडाण  
कम्माणं 15.17;45.10, दव्वहीणाण लाघवो 22.5, मोही  
मोहीण मज्झम्मि 24.35, एयं बुद्धाण सासणं 38.4, लोए  
जीवाण दिज्जती 45.17

### उत्तराध्ययन

नाणेण दंसणेणं च, चरित्तेण तवेण य 22.26, तत्थ चित्ता  
समुप्पन्ना, गुणवताण ताइणं 23.10, सारीरमाणसे दुक्खे,

(च) टीका ग्रंथों के लिए संकेत

चु चूर्णि

सी. शीलंकाचार्य की वृत्ति

(छ) आगमो. आगमोदय संस्करण

वज्रमाणाण पाणिणं 23.80, जोइसंगविऊ जे य घम्माण पारगा 25.7 वेयाणं च मुहं बूहि, बूहि जन्नाण जं मुहं 25.14 जं च घम्माण वा मुहं 25.11, तुब्भे घम्माण पारगा 25.36

### दशवैकालिक सूत्र

विष्पमुक्काण ताईणं 3.1 सब्वजीवाण जाणई 4.37, वित्ती साहूण देसिया 5.1.123, पंचिदियाण पाणाणं 7.2i, तोरणण गिहाण य 7.27

हस्तप्रतों में उपलब्ध इस प्रकार दोनों प्रकार के पाठ और प्राचीन विभक्ति-प्रत्ययों के प्रयोगों की दृष्टि से प्रत्ययों में अनुस्वार का आगम आनावश्यक

### आचारांग (गद्यांश)

- (i) तेणं 1, परवागरणेणं 2, पुढवीकम्म-समारंभेणं 12, 14, पमादेणं 33, अप्पाणेणं 62, इत्यादि ।
- (ii) संजतेहिं, जतेहिं, अप्पमत्तेहिं 33, सत्थेहिं 44, 59, अण्णेहिं 47, 54, 61, 62, विरूवरूवेहिं 52, 59, इत्यादि ।

### सूत्रकृतांग (अनुष्टुप् छंद)

- (i) णाणाविहाइं दुक्खाइं 1.1.1.26, संकियाइं असंकिणो 1.1.2.6
- (ii) पुट्टे गिम्हाभितावेणं 1.3.1.5, संतत्ता केसलोएणं 1.3.1.13, णणत्थ अंतराएणं 1.9.29
- (iii) जेहिं वा संवसे णरे 1.1.1.4, एतेहिं तिहिं टाणेहिं 1.1.4.12, सब्वाहिं अणुजुत्तीहिं 1.3.3.17, एतेहिं दोहिं टाणेहिं 1.8.2 भूतेहिं न विरुज्जेज्जा 1.15.4 (-हिं के अनेक प्रयोग इस प्रकार के मिलते हैं) ।

## ऋषिभाषितानि

- (i) कुम्भो विव सअंगाइं 16.2, सल्लाइं गारवा तिण्णा 35.19  
वहणाइं बंधणाइं 9 पं. 5 इत्यादि, सधामाइं पिणद्धन्ति 26.3
- (ii) तिविहेणं 1 पं. 4, 5, 6, अप्पहीणेणं 15 पं. 10, पुरेमएणं 23  
पं. 5, संजमेणं 23 पं. 6, वेरमणेणं 31 पं. 16, कोहेणं माणेणं  
लोभेणं 35, पं. 4, सयंकडेणं 2.3, जुज्जर कम्मुणा जेणं  
24.25, ते वत्थु सव्वमावेणं 35.10, दोसेणं ण विलुप्पति 35.11
- (iii) पावेहिं कम्मेहिं 4 पं. 2, दवेहिं 16 पं. 2, कामेहिं 21 पं.  
6, चउहिं ठाणेहिं 35 पं. 2, मिगा बज्जन्ति पासेहिं 21.2,  
अप्पकतेहिं सल्लेहिं 28.13, साहूहिं संगमं कुज्जा 33.7, जे  
ण लुब्भति कामेहिं 34.6, विज्जमन्तोपदेसेहिं 41.11, बद्धो  
वा रज्जुपासेहिं 24.37, वत्ततेहिं जगं किच्चं 45.47
- (iv) सव्वदुक्खाण मुच्चति 1 पं. 2, जीवाण य पुगलाण 31 पं. 10

## उत्तराध्ययन

### (i) गद्यांश

तेणं, समणेण, महावीरेण 29.1101, निव्वेएणं 29.1104,  
पडिक्कमणेणं 29.1113, पच्चक्खाणेणं 29.1115

### (ii) पद्यांश (अनुष्टुप् छंद)

तवनारायणजुत्तेणं 9.22, देसिओ वद्धमाणेणं 23.12, 23

(पाठा—देसिओ वद्धमाणेण सं. 1), महाउदगवेणेणं 23.65,

आलंबणेण कालेणं 24.4, जरामरण—वेणेणं 23.68, ने मुणी

रणवासेणं 25.29 अज्जप्पझाणजोगेहिं 19.94

## दशवैकालिक सूत्र (पद्यांश)

- तं च होज्ज अकामेणं 5 1.11 (पाठ. अकामेण, अचू.)  
 इमेणं उत्तरेण य 5 2.3, तम्हा सो पुडो पावेणं 7.5  
 दुग्गओ वा पओएणं 9.2.19 (पतोदेण, अचू.)  
 नावाहिं तारिमाओ त्ति 7.38  
 बहं सुणेइ कण्णेहिं 8.20  
 कण्णसोकखेहिं सदेहिं 8.26

## गद्यांश

थेरेहिं भगवंतेहिं 9.4.1,2,3

हस्तप्रतों में उपलब्ध ये दोनों प्रकार के पाठ और प्राचीन विभक्ति-प्रयोगों की दृष्टि से अनुस्वार का लोप अनावश्यक

## उत्तराध्ययन (अनुष्टुप् छंद)

- उरल्लंघण पल्लंघण, इंदियाण य जुंजणे 24.24  
 उभओ सीससंघाणं, संजयाण तवस्सिणं 23 10  
 नक्खत्ताण मुहं बूहि, बूहि घम्माण वा मुहं 2 14

## दशवैकालिक सूत्र (अनुष्टुप् छंद)

- निगंथाण महेसिणं 3.10  
 चिद्धित्ताण व संजए 5.2.8  
 संजायाण अकप्पियं 5.2.15.17  
 अमुयाण जयो होउ 7.50

पाठान्तरों में उपयुक्त प्राचीन प्रयोग (अनुष्टुप् छन्द के पद्य )

## असंक्रियांग

- असंक्रियाइं संकंति 1.1 2.6 ( पाठ. असंक्रियाणि, खं १ )

धूणाऽऽदाणाइं लोमंसि 1.9.11 (पाठा. धुत्तादाणाणि सूत्रकृ. चू.)

### उत्तराध्ययन

संजयाण तवस्सिणं 23.10 (पाठा. संजयाणं, ला १, २, ह, शा, पा, ने.)

इंदियाण य जुंजणे 24.24 (पाठा. इंदियाणं, सं १)

देसिओ वद्धमाणेणं 23.12,23 (पाठा. वद्धमाणेण—सं १)

### दशवैकालिकसूत्र

तहा फलाइं पक्काइं 7.32 (पाठा. फलाणि पक्काणि—अचू.)

पायखज्जाइं नो वए 7.32 (पाठा. पायखज्जाणि—अचू.)

तं च होज्ज अकामेणं 5.1.111 (पाठा. अकामेण—अचू.)

दुग्गओ वा पओएणं 9.2.19 (पाठा. पतोदेण—अचू.)

अनावश्यक अनुस्वार के आगम से छन्दोभंग

### सूत्रकृतांग (अनुष्टुप् छंद)

णाणाविहाइं दुक्खाइं 1.1.1.26, सत्थादाणाइं लोमंसि 1.9.10

सत्तप कामेहिं माणवा 1.1.1.6, एतेहिं तिहिं ठाणेहिं 1.1.4 12,

एतेहिं दोहिं ठाणेहिं 1.8.2, ततो वेरेहिं रज्जती 1.8.7,

कम्मी कम्मेहिं कच्चति 1.9.4, मेत्तिं भूतेहिं कप्पते 1.15.3

### ऋषिभाषितानि

कम्ममूलाइं दुक्खाइं 9.1, सव्विदिएहिं गुत्तेहिं 26.6,

मोहादिएहिं हिंसति, 41.8, दूतीसंपेसणेहिं वा 41.11



## उत्तराध्ययन

अप्पसत्थेहिं दारेहिं, सव्वओ पिहियासवो 19.94

## दशवैकालिक सूत्र

बहुं अच्छीहिं पेच्छइ 8.20

कण्णसोक्खेहिं सदेहिं 8 26

प्राचीन रूपक साहित्य एवं शिलालेखों में जो प्राचीन विभक्ति-प्रत्यय प्रयुक्त हुए हैं वे ही पालिसाहित्य<sup>1</sup> में भी मिलते हैं। अर्ध-मागधी भाषा के भी अमुक ग्रन्थ प्राचीन हैं अतः उनमें भी प्राचीन प्रत्यय ही होने चाहिए परन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं है चाहे वह रचना पद्यात्मक हो या गद्यात्मक। छन्द के लिए मात्राओं के नियमनार्थ जहाँ जहाँ पर अनुस्वार का आगम या लोप किया गया हो वह तो उपयुक्त लगता है परन्तु जहाँ पर दीर्घ या ह्रस्व (गुरु या लघु) की कोई आवश्यकता नहीं हो वहाँ पर भी ऐसे प्रयोग आ गये हैं। पद्य में ही नहीं परन्तु गद्य में भी ऐसे प्रयोग घुस गये हैं। हस्त-प्रतों में तो वैकल्पिक रूप से दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं इससे यह प्रमाणित होता है कि मूलतः प्राचीन प्रत्यय ही थे परन्तु कालान्तर से उत्तरकालीन प्रत्ययों का (अनुस्वार सहित या रहित) प्रचलन सामान्य हो गया। जब पद्य में —आणि, —एण, —हिं, —णं और —सु के स्थान पर मात्राओं के नियमन के लिए —आइं, —एण, —हिं, —ण और —सु का प्रयोग होने लगा तब उत्तरवर्ती काल में ये वैकल्पिक प्रत्यय भी प्रचलित हो गये। दूसरा कारण यह भी है कि लोगों

1. देखिए— Pali Language and Literature by Geiger, para No. 70, 81, 82, 85, etc.

के मुख से शब्द का अंतिम अक्षर नाक से उच्चरित होने लगा अतः उनमें अनुस्वार<sup>२</sup> जुड़ गया और कभी कभी शिथिल उच्चारण से मूल अनुस्वार का लोप हो गया। इन दो कारणों से अनुस्वार—सहित और अनुस्वार—रहित दोनों ही प्रकार के प्रत्यय प्रचलन में आगये और तब फिर व्याकरणकारों के लिए वे दोनों ही प्रत्यय भाषा के अनिवार्य अंग बन गये।

एक बार अनुस्वार—रहित प्रत्यय ने अनुस्वार—युक्त होकर प्रमुख स्थान पा लिया और फिर मात्राओं के नियमन का प्रश्न उठा तब उन्हें अनुनासिक (चन्द्रबिन्दु—युक्त) कर दिया गया, अर्थात्—आणि= आइं→आईं, एण=एणां→एणँ, हि=हिँ→हिँ, —णं=ण→णँ और—सु=सुं→सुँ। यही इन प्रत्ययों का ऐतिहासिक विकास है।

इस सारे अध्ययन का सार यही है कि अर्धमागधी की प्राचीन कृतियों में जहाँ पर मात्राओं के नियमन का प्रश्न उपस्थित नहीं होता है वहाँ पर प्राचीन त्रिभक्ति—प्रत्यय ही रहे यही उचित माना जाएगा।

2. वसुदेवहिंडी. प्र. ख. प्रथम अंश में उपलब्ध अनुस्वारयुक्त प्रयोग :— आशार्थ द्वि. पु. ए. व के प्रयोग — पथडैहिँ, पृ 3.27, निरथारेहिँ, पृ. 16.5 सूत्रकृतांग का प्रयोग — पेहाहिँ (पेहाहि=पेश्वस्व=शी.) 1.4 2.4; पहराहिँ 1.4 2.9 (पाठा).

### कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन

Let right deeds be thy motive, not the fruit  
which comes from them.

---

---

All the different Religions are so many Paths  
that lead Mankind to the one Universal God.

Swamy Ramdas

---

---

आ गे

अ नु पू र क

ए वं

प रि शि ष्ट

---

---

देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति ।  
अस्सउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ समचित्ति ॥

परमात्मप्रकाश 1.125

आत्मतत्त्व न देवालय में, न शिला में, न लेप्य में और न चित्र  
में है । वह अक्षय, निरंजन, ज्ञानमय, शिव, समचित्त में संस्थित है ।

---

---

## १३ प्राकृत भाषाओं में मध्यवर्ती व्यंजन 'ळ'

वेदों की भाषा में मध्यवर्ती ळकार के प्रयोग मिलते हैं । पालि भाषा में भी यह परम्परा चाट्ट रही । अशोक के पूर्वी भारत (और उत्तर) के शिलालेखों में ळकार का प्रयोग मिलता है<sup>1</sup> (एळक, दुवाळस और पंनळस = एडक, द्वादश, पञ्चदश) ।

डॉ. मेहेण्डले (पृ० 272,460) के अनुसार ळकार का प्रयोग अशोक के काल में पूर्वी भारत (और उत्तर भारत) में, ई० स० प्रथम शताब्दी में पश्चिम में और ई० स० दूसरी शताब्दी में दक्षिण में मिलता है । उनके अनुसार ळकार का प्रयोग पूर्व से (और उत्तर से) अन्य प्रदेशों में फैला है ।

हेमचन्द्राचार्य ने (8.4.308) पैशाची भाषा के लिए ळकार के बदले में ळकार का नियम दिया है । परन्तु अन्य प्राकृत भाषाओं के लिए (चूलिका पैशाची के सिवाय) ळकार के प्रयोग का उल्लेख नहीं किया है ।

पालि भाषा और अशोक के पूर्वी भारत के शिलालेखों में ळकार का प्रयोग मिलते हुए भी अर्धमागधी आगमों के आधुनिक संस्करणों में ळकार का अभाव है ।

हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण में उद्धृत (8.1.7.) एक प्राकृत पद्य में 'कळभ'=कलभ शब्द में 'ळ' मिलता है, इससे अनुमान

---

1. देखो : *Aśoka Text & Glossary, Part II, Glossary, A. C. Woolner, Oxford University, Calcutta, 1924*

लगाया जा सकता है कि प्राकृत भाषाओं में भी ङकार का प्रचलन था लेकिन उत्तरवर्ती काल में उसका स्थान 'ळ' और 'ड' ने ले लिया<sup>2</sup> ।

पिशल महोदय (240) के अनुसार तो सभी प्राकृतों में ङकार का प्रयोग (हस्तप्रतों में) मिलता है और उत्तरभारत की हस्तप्रतों में उसके स्थान पर ल (और ड भी) मिलता है । उन्होंने अपने प्राकृत व्याकरण में सभी प्राकृतों (काव्य, रूपक और कथा-साहित्य) में से मध्यवर्ती ङकार-युक्त शब्दों के उदाहरण दिये हैं । इतना ही नहीं परन्तु अर्धमागधी आगम साहित्य (हस्तप्रतों के आधार से) में से भी अनेक ङकार वाले शब्द उद्धृत किये हैं । इससे स्पष्ट है कि अर्धमागधी भाषा में ङकार का प्रयोग प्राचीन काल से ही था (क्योंकि वह पूर्वी भारत की भाषा थी) परन्तु उत्तरवर्ती काल में इस व्यंजन के बदले में लकार का प्रयोग (कुछ शब्दों में

2. हेमचन्द्राचार्य ने पैशाची प्राकृत में लकार के बदले ङकार का प्रयोग समझाया है परन्तु वास्तविक रूप में देखा जाय तो यह 'ळ' का 'ळ' में परिवर्तन नहीं है परन्तु संस्कृत भाषा की तुलना में समझाया जाने के कारण ऐसा कहना पड़ा । अन्य प्रकार से कहा जाय तो पैशाची के ङकार के बदले में संस्कृत में लकार मिलता है क्योंकि ङकार तो वैदिक परंपरा से चला आया है लेकिन शिष्ट संस्कृत ने उसे नहीं अपनाया ।

हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी है और हिन्दीभाषी विद्वान् मराठी और गुजराती भाषा को समझाते समय स्वभावतः ऐसा कहेंगे कि लकार का मराठी में ङकार हो गया और गुजराती में णकार हो गया । वास्तविकता ऐसी नहीं है । यह तो मात्र विभिन्न भाषाओं को समझाने के लिए किसी एक भाषा का आधार बनाकर अमुक नियम बनाया जाता है ।

इस दृष्टि से शिष्ट संस्कृत में से प्राकृत भाषा का उद्भव हुआ ऐसा कहना भी उपयुक्त नहीं लगता क्योंकि वेदों की भाषा में ङकार का प्रयोग था और वही प्रयोग पैशाची (और अन्य प्राकृतों) में परंपरा से चला आया ।

डकार) होने लगा । लिपि की दृष्टि से लकार और लकार के लेखन में बहुत कम अन्तर है, इस कारण से भी लकार का लकार में परिवर्तन हो गया हो ऐसा कहना भी अनुपयुक्त नहीं होगा ।

नीचे अर्धमागधी और अन्य प्राकृत रचनाओं में प्रयुक्त लकार वाले प्रयोग दिये जा रहे हैं जो पिशल महोदय ने अपने प्राकृत—व्याकरण में उद्धृत किये हैं ।

( i ) अर्धमागधी आगम ग्रंथ

[पिशल के प्राकृत [म.जै.वि.के संस्करणों [सूत्र नं.]  
व्याकरण के अनुसार ] के अनुसार ]

(अ) अर्धमागधी भाषा के चार प्राचीन ग्रन्थ :

### १. आचारांग

आवीळए	आवीलए	143
आविळियाण	आवीळियाण	373
उप्पीळवेज्ज	उप्पीलावेज्जा	474
किळ्ळा	किड्डा	64
खेळ्ळावण	खेळ्ळावण	741
गरुळ	गरुळ	757,758
गुळ	गुळ	350
तळाग	तलाग	505
दाळिम	दाडिम	373,379
निप्पीळए	णिप्पीलए	143
पनीळए	पनीलए	143
लेळुणा	लेळुणा	302,342
लेळुंसि	लेळुंसि	577

## 2. सूत्रकृतांग

गरुळ	गरुळ	372
छळाययण	छळायतण	539
परिपीळेज्ज	परिपीळेज्ज	234

## 3. उत्तराध्ययन

एळय	एळय	185
कीळए	कीळए	607,770
कीळन्ति	कीळन्ति	566
तळाग	तळाग	1181
ताळण	ताळणा	637
ताळयंति	ताळयंति	378,384
पीळा	पीळा	824,1260,1273
पीळिय	पीळिय	624,625,658
पीळेइ	पीळेइ	1261,1274,1287
संपीळा	संपीळा	1260,1273,1286

## 4. दशवैकालिकसूत्र

पीळेइ	पीळेइ	423
-------	-------	-----

## (ब) अन्य अर्धमागधी ग्रन्थ

## 5. स्थानांग

गरुळ
छळंस

## 7. व्याख्या-प्रज्ञप्ति

गरुळ	पीळण
छळसीइ	सोळसण्हं

## 6. समवायांग

कीळिय
छळसीइ

तळाव
ताळेन्ति
दाळिम

- |   |  |  |
|---|--|--|
| 8. ज्ञाताधर्मकथा<br>किळ्ळा<br>ताळिय<br>ताळेइ<br>ताळेह<br>सविळिय | 9. उपासकदशा<br>आमेळय<br>ताळेज्जा<br>पीळण | 10. प्रश्नव्याकरण<br>गरुळ<br>तळग<br>ताळण<br>ताळिज्जमाण<br>पीळण<br>पीळा |
| 11. विपाकसूत्र<br>ओवीळेमाण<br>ताळेमाण                           | गवेळग<br>तळाय                            | 13. राजप्रश्नीयसूत्र<br>आमेळग<br>कीळन्ति<br>कीळावण                     |
| 12. ओपपातिकसूत्र<br>एळय<br>कीळण<br>कीळावण<br>गरुळ               | ताळण<br>दाळिम<br>निगळ<br>पीळियग          | 14. जीवाभिगमसूत्र<br>गरुळ<br>निगळ<br>सोळस                              |
| 15. प्रज्ञापनासूत्र<br>एळय<br>गरुळ<br>तळग<br>दाळिम              | गरुळ                                     | 17. अनुयोगद्वारसूत्र<br>आमेळिय<br>वेळनय                                |

(ii) अन्य प्राकृत भाषाएँ

1. मागधी (रूपक साहित्य) : कीळिदुं, कीळिशं, गुळोदण, ताळिअ, णिअळ



2. शौरसेनी (रूपक साहित्य) : कीळणअ, कीळमाण, कीळसि, कीळम्ह, कीळिद, कीळिस्सं, कीळिस्ससि, कीळेम्ह, खेळण, खेळदि, खेळिदुं, णिगळवदी
3. आवन्ती (रूपक साहित्य) : कीळइ, कीळंती, कीळिदुं
4. महाराष्ट्री (काव्य साहित्य) : आमेळिय, कीळेइ, णिअळ, णिअळाविअ, णिअळिअ, वळआणळ, वळआमुह, वळवामुह
5. जैन महाराष्ट्री (कथा साहित्य) : कीळइ, कीळंत, कीळंति, कीळिऊण, खेळ्ळावेऊण, नियळिय, वळयामुह, सोळस

(iii) कतिपय अर्धमागधी शब्दों की संस्कृत और पालि के शब्दों के साथ तुलना

(पिशल के अनुसार)	(जैनागमों के अनुसार)	(संस्कृत)	(पालि)
आवीळियाण	आवीलियाण	(पीडय्)	(पीळ)
उप्पीळवेज्ज	उप्पीलावेज्जा	”	”
एळय	एलय	एडक	एळक
कीळए	कीलए	(कीड्)	(कीळ)
कीळन्ति	कीलंति	”	”
खेळ्ळावण	खेळ्ळावण	खेळनक	×
गरुळ	गरुळ	गरुड	गरुळ
गुळ	गुळ	गुड	गुळ

छळाययण	छळायतण	षडायतन	(छळ)
तळाग	तलाग	तडाग	तळाक
ताळण	तालणा	ताड्य्	(ताळ)
ताळयंति	तालयंति	”	”
निगळ	निगड	निगड	निगळ
निष्पीळ	णिष्पीळ	निष्पीड	निष्पीळ
पवीळए	पवीलए	प्रपीडकः	(पीळ)
पीळण	पीलण	पीडन	पीळण
पीळा	पीला	पीडा	पीळा
पीळिय	पीलिय	पीडित	पीळित
पीळेइ	पीलेइ	पीडयति	पीळेंति
सोळस	सोलस	षोडस	सोळस

(iv) हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण के शब्द

(पिशल के अनुसार, (पी. एल. वैद्य के संस्करण के (सूत्र नं.)  
परिच्छेद 240 ) अनुसार, 1928 A.D. )

कीळइ	कीळइ	8.1.202
गरुळ	गरुळ	”
गुळ	गुड, गुळ	”
तळाय	तलाय	”
दाळिम (दाडिम)	दाळिम (दाडिम)	”
नळ (नड)	णळ (णड)	”
नाळी (नाडी)	णाली (णाडी)	”
पीळिय	पीडिअ	”
वळयामुह	वलयामुह	”

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि ळकार का प्रयोग अर्घमागधी और सभी प्राकृतों में परंपरा से चलता आया । कालान्तर में लेखन पद्धति के कारण प्राकृतों में से उसका लोप हो गया हो परन्तु अभी भी मराठी, गुजराती, आदि भाषाओं में उसका प्रयोग विद्यमान है । अर्घ-मागधी जैसी भाषा में से उसका लोप कर दिया जाने से उसकी प्राचीनता का एक लक्षण लुप्त हो गया ऐसा कहना अनुपयुक्त नहीं होगा ।

---

अपमादो अमतं पदं, पमादो मच्चुनो पदं ।

अपमत्ता न मीयन्ति, ये पमत्ता यथा मता ॥

**Vigilance is the Path to Immortality (Nibbana),  
Negligence is the Path to Death. Vigilent People do  
not die, Those who are negligent are like unto the Dead.**

---

## १४. अर्धमागधी के दो स्वरूप : प्राचीन और उत्तरवर्ती

यहाँ पर अर्धमागधी भाषा के प्राचीन और उत्तरवर्ती दो स्वरूपों के कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं। दोनों ही रूप एक साथ चलते हैं, कभी एक ही पद्य, वाक्य, परिच्छेद या अध्याय में तो कभी अलग अलग अध्यायों या ग्रन्थों में। इस प्रकार के परिवर्तनों (विभिन्न हस्तप्रतों के पाठान्तरों के अनुसार) में प्रमादवश पाठकों और लेहियों का जाने-अनजाने पीढ़ी दर पीढ़ी से हाथ रहा है। इस परिप्रेक्ष्य में प्राचीन ग्रन्थों के लिए यह उपयुक्त ज्ञान पडता है कि उत्तरवर्ती (शब्दों और प्रत्ययों) पाठों के स्थान पर प्राचीन पाठों को अग्रिमता दी जाय जिससे मूल प्राचीन अर्धमागधी का संरक्षण हो सके।

एक ही पद्य, वाक्य, सूत्र या परिच्छेद में विभिन्न पाठ  
(प्राचीन एवं उत्तरवर्ती)

### आचारांग

भगिणी, भङ्गी 2.360, उद्वेतव्वा, परितवेयव्वा 1.137,  
भगवतो, भगवओ 2.744, सदा, सता 1.33, एगदा, एगया 1.64,  
67; 2.462, वदंति, वयंति 2.520, पादं, पायं 2.594, पादाणि, पायाणि  
2.592, 593, जघा, जहा 2.555, नो, णो 2.583. नामधेज्जा,  
णामधेज्जा 2.744, निगमंथे, णिगमंथे 2.784, मंसूणि, छिण्णपुब्बाइं 1.303  
अण्णतराणि, तहप्पगाराइं 2.558

### सूत्रकृतांग

आइगरे, आदियरा 2.2.718, नवनीतं, णवणीयं 2.1.650,  
मडंबघातंसि, आसमघातंसि, गामघायंसि, णगरघायंसि 2.2.699,  
गम्भातो गम्भं, माराओ मारं 2.2.713, दिया वा रातो वा, दिया वा  
राओ वा 2.4.749, अन्ने वि आदियावेंति, सयमाइयंति 2.1.653,

धम्मा वि पुरिसादीया धम्मा वि पुरिसाईया 2.1.660, मुसं वदावेति, सयमेव मुसं वयति 2.2.700, मदेण, मएण, जातिमदेण, रूवमएण 2.2.703, केणइ आदाणेणं, केणइ आयाणेणं 2.2.710, निग्गंथे, णिग्गंथे 1.16.637, नवनीतं, णवणीयं 2.1.650, जहानामए, जहाणामए 2.1.650

### ऋषिभाषितानि

जं सुखेण दुहं, जं सुहेण सुहं 38.1, चयति संतर्ति, भवसंतइं 9.19, पावघाते हतं दुक्खं, पुप्फघाए जहाफलं 15.6, जीविताओ ववरोवेति, जीवियाओ ववरोवेज्जा, 34 पं. 26.29,30 जघा विरियं, जहा थामं, जहा बलं 40 पं. 10, तेत्तलिपुत्तेण अमच्चेणं 10 पं. 12

### उत्तराध्ययन

खेत्ताणि, खेत्ताइं 12.13, निच्चं भीएण तत्थेणं दुहिएणं वहिएण य 19.72, पासेण य महामुणी, देसिओ वद्धमाणेणं 23.12, आलंबणेण, कालेणं 24.4, नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो 25.30, कालेणं, मग्गेण 24.4, कुसचीरेण, रण्णवासेणं 25.29, उभओ सीससंघाणं संजयाण तवस्सिणं 23.10, अन्नमन्नं, अण्णमण्ण 13.5, सामन्नं, सामण्णं 19.35

### दशवैकालिकसूत्र

विमणेण अकामेणं 5.1.111, उत्तरेण इमेणं 5.2.3, तेण उवाएणं 9.2.20, काएण, माणसेणं 11.18, आहारमाइणि, अभोज्जाइं, 6.46, पउमगाणि 6.63, ठाणाइं 6.7, पुरेकडाइं नवाइं पावाइं 6.67, विमाणाइं 6.68, न 7.11.14, ण 7.13, नत्तुणिए 7.15, णत्तुणिय 7.18, पाणाणं पंचिदियाण 7.21, खंभाणं तोरणण 7.27

## एक ही अध्ययन में अलग अलग पाठ (प्राचीन और उत्तरवर्ती) आचारांग

भगिणी ति वा 2.5.1.561  
परितावेतव्वा उद्वेतव्वा 1.4.2.136  
अहापरिणातं वसामो 2.7.1.621  
इदाणिमेव दलयाहि 2.5.1.561  
चम्मच्छेदणए 2.7.2.622  
मेहात्री 1.1.54  
तिविधेण 1.2.79  
कप्पति आघाकम्मिए 2.1.9.390  
जे तत्थ समाधिहाए 2.7.2.621  
निग्घोसं 2.5.1.563-565  
णो तं नियमे 2.13.697,699,  
703, 706-710, 713-723,  
728  
तिन्नि नामधेज्जा 2.15.713

भइणी ति वा 2.5.1.559  
ण परितावेयव्वा ण उद्वेयव्वा  
1.4.1.132  
अहापरिणायं वसामो 2.7.1.608  
इयाणिमेव दलयाहि 2.5.1.562  
चम्मच्छेयणं 2.7.1.607  
मेहात्री 1.1.17,30,33,47  
तिविहेण 1.2.82  
कप्पति आहाकम्मियं 2.1.9.392  
जे तत्थ समाहिहाए 2.7.1.608  
निग्घोसं 2.5.1.566  
णो तं नियमे 2.13.690-96,  
698-702,705,711,712,  
724,726  
तिणिण णामधेज्जा 2.15.744

## सूत्रकृतांग

अहावकासेणं 2.3.732  
तिउट्टति 1.1.1.5  
आहिता 1.1.1.15  
णिस्सिता 1.1.2.57

अहावगासेणं 2.3.723  
तिउट्टई 1.1.1.1  
आहिया 1.1.1.7  
निस्सिया 1.1.1.14

पुरिसजाते 2.1.641

जे मातरं च 1.7.403

आतगुत्ते 1.11.572

महता आदाणातो

2.1.683,684,686

विमुच्चती 1.1.19.

एतेहिं 2.5.756-762

सदा 1.2.2.116

मग्गविदू 2.1.643

नत्थि 2.5.772-774 (सात बार),  
778-781

निस्सिया 1.1.1.14

उन्निक्खेतव्वं } 2.1.643,640  
उन्निक्खेयव्वं }

उन्निक्खेस्सामि } 2.1.639,640  
उन्निक्खिस्सामि }

खेतन्न, अखेत्तन्न, खेयन्न

2.1.640, 641,680

पुरिसजाए 2.1.642

जे मायरं च 1.7.385

आयगुत्ते 1.11.520

महया आदाणातो 2.1.685

मुच्चइ 1.1.1.2

एएहिं 2.5.758, 760.

सया 1.2.2.113

मग्गविऊ 2.1.641

णत्थि (दस बार)

2.5.765-771,775-777

णिस्सिता 1.1.2.57

उण्णिक्खेतव्वं } 2.1.641,642  
उण्णिक्खेयव्वं }

उण्णिक्खेस्सामि } 2.1.641,642,  
उण्णिक्खिस्सामि }

खेतण्ण, अखेत्तण्ण, खेयण्ण

2.1.640,642,634

### ऋषिभाषितानि

आदाणरक्खी 4.7

से कधमेत्तं 25 पं. 31,37

साधूहि 33.8

आयाणरक्खी 4 पं. 1

तं कहमिति 25.34

साहूहिं 33.7

## उत्तराध्ययन

उदगं 12.39

समितीओ 24.3,26

निक्कसिज्जइ 1.7

जन्मवाडं 12.13

खेत्ताणि 12.13

कम्माणि 13.26

वद्धमाणेण पासेण 23.29

उदएण 12.38

समिईओ 24.19

णिककसिज्जइ 1.4

जण्णाण 12.17

खेत्ताइं 12.15

कम्माइं 13.32

वद्धमाणेणं पासेण 23.12

एक ही ग्रंथ के अलग अलग उद्देशकों या अध्ययनों में  
अलग अलग पाठ (प्राचीन और उत्तरवर्ती)

## आचारंग

पंसु वा पक्खि वा सरीसवं वा  
जल्लचरं वा 2.3.3.510

सव्वे सत्ता परितावेतव्वा उद्वेतेव्वा  
1.4.2.136

एस आतावादी 1.5.5.171

दिट्ठं... सदा अप्पमत्तेहिं  
1.1.4.33

सदा जत्ते काल्लकंखी परिव्वए  
1.3.2 116

(देखिए सूत्र नं.  
164,165,173,187,195)

पसुं वा पक्खि वा सरीसवं वा  
जल्लयरं वा 2.4.2.539

सव्वे सत्ता ण परितावेयव्वा  
ण उद्वेयेव्वा 1.4.1.132

से आयावादी 1.1.1.3

मुणिणो सया जागरंति 1.3.1 106

अप्पमत्ते सया परक्कमेज्जासि  
1.4.1.133

(देखिए सूत्र नं. 158,182,  
286,293)



**सूत्रकृतांग**

जे मातरं च पितरं च  
1.4.1.247  
आतगुत्ता जिइंदिया 1.8.431  
जे य पडुप्पन्ना 2.2.707

जे मातरं च पियरं च 1.7.403  
विरते आयगुत्ते 1.7.400  
जे य पडुप्पण्णा 2.1.680

**ऋषिभाषितानि**

पंचवणीमकसुद्धं... भिक्खं 12.2  
गंभीरं सब्वतोभदं 45.30  
पुप्फघाते हतं फलं 25.1  
कम्ममूलमनिव्वाणं 9.1  
फलघाती न सिंचति 15.7  
गावो चरन्ती इह 41.16  
सिद्धे भवति णीरए(ये) 1.3;29.19  
मोहमूलाणि दुक्खाणि 2.7  
पावमूलाणि दुक्खाणि 15.1

पंचवणीमगसुद्धं भिक्खं 41.15  
गंभीरं सब्वओभदं 9.33  
पुप्फघाए जहाफलं 15.6  
मोहमूलमणिव्वाणं 2.7  
फलघाती ण सिंचती 2.6  
गाओ चरन्ती इह 12.1  
सिद्धो भवति णीरओ 9.21  
कम्ममूलाइं दुक्खाइं 9.1

**प्राचीन माने जानेवाले विभिन्न ग्रन्थों में एक समान शब्दरूपों में पाठ-भेद (प्राचीन और उत्तरवर्ती)**

( i ) उत्तरवर्ती ग्रन्थों में प्राचीन पाठ और प्राचीन ग्रन्थों में उत्तरवर्ती पाठ

**प्राचीन पाठ**

एस घम्मे धुवे णित्तिए सासते  
समेच्च लोणं खेतन्नेहिं पवेदिते  
—सूत्रकृ. 2.1.680

**उत्तरवर्ती पाठ**

एस घम्मे सुद्धे णित्तिए सासए  
समेच्च लोयं खेतणोहिं पवेदिते  
—आचा. 1.4.4.132

घम्मेणं इतो चुते पेच्चा देवे

सिया—सूत्रक. 2.1.682

पाणातिपातं तिविहं तिविहेणं

णेव कुञ्जा—इसिभा 1. पं, 4

सन्वे सत्ता ण हंतवा ण

अञ्जावेतवा—आचा. 1.4.1.132

के वा इओ चुते पेच्चा

भविस्सामि—आचा. 1.1.1.1

णेव सयं पाणातिवातं करेञ्जा

जावञ्जीवाए तिविहं तिविहेणं

आचा, 2.15.777

सन्वे सत्ता ण हंतवा ण

अञ्जावेयवा—सूत्रक. 2.1.679

(ii) मूल ग्रन्थ के पाठों और उसकी चूर्णि के पाठों में अन्तर मूल ग्रन्थ में उत्तरवर्ती और उसकी चूर्णि में प्राचीन पाठ

विदेहदिण्णा, आचा. 2.15.744

समाहीय, सूत्रक. 1.10.478

सूत्रक. 2.694-696

—हेउं (अनेक बार)

आतहेउं

जहानामए

अण्णं

विदेहदिन्ना—आचा. पृ. 264 पर

चूर्णिपाठ

समाधीय, सूत्रक. पृ. 85 पर

चूर्णिपाठ

सूत्रक. पृ. 152 पर चूर्णिपाठ

—हेतुं

आयहेतुं

जधानामए

अन्नं

## १५. मूल अर्धमागधी भाषा के यथा-स्थापन में विशेषावश्यकभाष्य की जेसलमेरीय ताडपत्र की प्रति में भाषिक दृष्टि से उपलब्ध प्राचीन पाठों द्वारा एक दिशा-सूचन

[कालान्तर से ग्रंथ की प्राचीन भाषा का मूल स्वरूप बदल जाने का एक ज्वलंत उदाहरण]

जैन अर्धमागधी आगम ग्रन्थों में कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं जिनकी रचना प्राचीन मानी जाती है, परन्तु उन ग्रन्थों में उत्तरवर्ती भाषा के भी दर्शन होते हैं। आगमों की अन्तिम वाचना पाँचवीं-छठी शताब्दी में की गयी जबकि उनकी प्रथम वाचना का समय ई० स० पूर्व चौथी शताब्दी माना जाता है। महावीर और बुद्ध समकालीन माने जाते हैं परन्तु पालि भाषा के प्राचीनतम त्रिपिटक-ग्रन्थों और अर्धमागधी के प्राचीनतम आगम ग्रन्थों की भाषा में बहुत अन्तर पाया जाता है, यहाँ तक कि सम्राट् अशोक के शिलालेखों में भाषा का जो स्वरूप प्राप्त होता है उससे भी काफी विकसित रूप अर्धमागधी आगम ग्रन्थों की भाषा में उपलब्ध हो रहा है। होना ऐसा चाहिए था कि कम से कम प्राचीनतम जैन आगम ग्रन्थों में सम्राट् अशोक के पहले का तथा प्रथम जैन आगम-वाचना के काल का यानि चौथी शताब्दी ई० स० पूर्व का भाषा-स्वरूप मिले परन्तु ऐसा नहीं है। भाषा की इस अवस्था का कारण क्या हो सकता है! आगमोद्धारक मुनि श्री पुण्यविजयजी ने कल्पसूत्र की प्रस्तावना में स्पष्ट कहा है कि समय की गति के साथ-साथ चाट्ट भाषा के प्रभाव के कारण पूर्व आचार्यों, उपाध्यायों और लेहियों के हाथ उन ग्रन्थों में

जाने—अनजाने भाषा—सम्बन्धी परिवर्तन आ गये हैं जो उनके शिष्य अध्येताओं को अनुकूल एवं सरल रहे होंगे। आगम—ग्रन्थों के शब्दों में वर्णविकार की जो बहुलता आज विभिन्न हस्तप्रतों में देखने को मिलती है वह इसी प्रवृत्ति का नतीजा है। इन विषमताओं के कारण आगमों के विभिन्न संस्करणों में एक ही शब्द के अनेक रूप अपनाये गये हैं। श्री शुब्रिग महोदय ने तो इस गुन्थी और उलझन से छुटकारा पाने के लिए और भाषा को एकरूपता देने के लिए विवश होकर मध्यवर्ती व्यंजनों का सर्वथा लोप ही कर दिया है चाहे चूर्णि अथवा ग्रन्थ की हस्तप्रतों में इस प्रकार के पाठ मिले या न भी मिले। वर्ण-विकार की दृष्टि से ही नहीं परन्तु रूप-विन्यास की दृष्टि से भी कई ऐसे स्थल मिलते हैं जहाँ पर प्राचीन के बदले में उत्तरवर्ती रूप अपनाये गये हैं। शुब्रिग महोदय के सिवाय अन्य विद्वान् सम्पादकों के संस्करणों में भी समानता एवं एकरूपता नहीं है। किसी में मध्यवर्ती व्यंजनों का लोप अधिक है तो किसी में कम। श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई द्वारा प्रकाशित संस्करण में मध्यवर्ती व्यंजनों का लोप कम मात्रा में मिलता है परन्तु उस संस्करण में भी ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ पर मूल हस्त-प्रतों, चूर्णि एवं टीका के आधार से उत्तरवर्ती पाठों की जगह पर प्राचीन पाठ (शब्द—रूप) स्वीकार किये जा सकते हैं। सम्पादन की पद्धति—विषयक नियमों में भी परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत होती है, यथा—अनेक प्रतियों में जो पाठ उपलब्ध हो उसे लिया जाय या प्राचीनतम प्रत में पाठ उपलब्ध हो उसे लिया जाय या चूर्णि का पाठ लिया जाय या टीकाकार का पाठ लिया जाय अथवा भाषिक दृष्टि से जो शब्द—रूप प्राचीन हो उसे अपनाया जाय ?

प्रो० श्री एल० आल्सडर्फ महोदय यदि छन्द की दृष्टि से किसी शब्द की मात्रा को घटा या बढ़ा सकते हैं, ह्रस्व या दीर्घ कर सकते हैं और उसमें वर्ण बढ़ा या घटा सकते हैं तो इसी न्याय से भाषा की प्राचीनता को सुरक्षित रखने के लिये क्यों न प्राचीन शब्द—रूप ही स्वीकार किये जाने चाहिए। यदि किसी ग्रन्थ की प्राचीनता अन्य प्रमाणों से सुस्पष्ट हो तो फिर उसकी भाषा की प्राचीनता को यथास्थापना के लिए उपलब्ध सामग्री के सहारे प्राचीन शब्द—रूप ही स्वीकार किये जाने चाहिए। यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि आगम ग्रन्थों की भाषा में ध्वन्यात्मक दृष्टि से बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ है। इसका प्रबल साक्ष्य चाहिए तो हम विशेषावश्यकभाष्य की हस्तप्रतों का अध्ययन करें जिससे एकदम स्पष्ट हो जाएगा कि किसी को इस विषय में तनिक भी शंका करने का अवसर ही नहीं रहेगा।

पं० श्री दलसुखभाई मालवणिया द्वारा सम्पादित एवं ला० द० भा० सं० वि० मन्दिर, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित वि० आ० भा० के नवीन संस्करण की कुछ विशेषताएँ हैं। इसके सम्पादन में जिन हस्तप्रतों का उपयोग किया गया है उनमें से सबसे प्राचीन जेसलमेर की ताडपत्रीय हस्तप्रत (जे.) है जिसका समय लगभग ई० सन् के दसवें शतक का पूर्वार्ध माना गया है। (इसके अतिरिक्त 'त' संज्ञक प्रत भी ताडपत्रीय है। 'हे' और 'को' संज्ञक दो छपे हुए संस्करण हैं—एक मलधारी हेमचन्द्र का और दूसरा कोटयाचार्य की टीका सहित हैं)। इन सबसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण जो हस्तप्रत मिली वह है 'सं' संज्ञक जो स्वोपज्ञवृत्ति सहित है और उसका समय ई० सन् १४३४ है। स्वोपज्ञवृत्ति

में वि०आ०भा० की हरेक गाथा का प्रथम शब्द मूल रूप में प्राकृत भाषा में दिया गया है। इससे इतना लाभ तो अवश्य है कि मूल रचनाकार ने प्राकृत शब्दों को किस स्वरूप में प्रस्तुत किया था उसे हम स्पष्ट रूप से जान सकते हैं। मूल ग्रन्थ के कर्ता आचार्य जिनभद्र का समय ई० सन् की छठीं शताब्दी माना गया है (स्वर्गवास ई० सन् ५९,३) और जेसलमेर की ताडपत्रीय हस्तप्रत जिस आदर्श प्रत पर से लिखी गयी थी उसका समय ई० सन् ६०९ है ऐसा श्री दलसुखभाई मालवणिया का मन्तव्य है। अतः वि० आ० भा० की जो प्राचीनतम प्रत मिली है वह रचनाकार से लगभग ३०० से ३५० वर्ष बाद की ही है, इसलिए रचनाकार की जो मूल भाषा थी उसमें दूरगामी परिवर्तन की सम्भावना कम ही रहती है। स्वोपज्ञवृत्ति में प्राप्त शब्दों के साथ तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाएगा। ग्रन्थ के 'हे' एवं 'को' संज्ञक प्रकाशित संस्करणों के शब्दों में जो ध्वनिगत परिवर्तन मिलता है वह मूल अर्धमागधी भाषा के यथास्थापन के लिए एक आदर्श एवं अति महत्त्वपूर्ण दिशा-संकेत करता है।

**वि०आ०भा० का ध्वनिगत विश्लेषण (गाथा नं. १ से १०० जिनमें सभी प्रतों के पाठान्तर दिये गये हैं—**

(क) ग्रन्थ की स्वोपज्ञ-वृत्ति में दिये गये हरेक गाथा के प्रारम्भिक शब्दों का भाषिक (ध्वनिगत) विश्लेषण :—

	कुल लोप	घोष-अघोष	यथावत्
मध्यवर्ती अल्पप्राण	९ १३%	९ १३%	४९ ७४%
मध्यवर्ती महाप्राण	० ०%	६ ३५%	११ ६५%
संयोग	९ १०%	१५ १८%	६० ७२%

(ख) 'जे' प्रत में प्रत्येक गाथा का वही प्रारम्भिक शब्द

	लोप	घोष-अघोष	यथावत्
म० अल्पप्राण	७ १०%	१२ १८%	४८ ७२%
म० महाप्राण	० ०%	९ ५३%	८ ४७%
संयोग	७ ८३%	२१ २५%	५६ ६६३%

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि स्त्रोपज्ञवृत्ति की तुलना में 'जे' प्रत की गाथाओं के प्रारम्भिक प्रथम शब्दों में ध्वनिगत परिवर्तन बहुत ही कम मात्रा में आगे बढ़ा है और यह अन्तर लगभग ५३% है। परन्तु 'जे' प्रत की १ से १०० गाथाओं के सभी शब्दों का विश्लेषण करने पर उनमें यह लोप ११३% है और यथावत् स्थिति ७०% है (आगे देखिए) जो स्त्रोपज्ञवृत्ति के साथ बहुत कम अन्तर रखता है।

१ से १०० गाथाओं के सभी शब्दों का विश्लेषण

(ग)	लोप				घोष-अघोष				यथावत्				योग
	जे	त	हे	को	जे	त	हे	को	जे	त	हे	को	
क	३४	३५	३६	३६	२२	२१	२२	२२	४	४	२	२	५०
ग	०	०	०	०	०	०	०	०	२८	२८	२८	८२	२८
घ	५	५	५	५	०	०	०	०	०	०	०	०	५
ज	३	३	३	३	०	०	०	०	०	०	०	०	३
त	१३	१५	१८	१८	१	१	०	०	१८	१८	१३	१३	१९८
र	६	२९	६२	६१	३३	८	०	०	३९	४१	१६	१७	७८
प	०	०	१	१	५०	५०	४९	४९	९	९	९	९	५९
य	१७	२०	३८	४०	०	०	०	०	७९	७६	५८	५६	९६
व	६	६	६	६	०	०	०	०	१४७	१४७	१४७	१४७	१५६
योग	८४	११३	३३६	३३७	१०६	८०	७१	७१	४९०	४८७	२७३	२७२	६८०



(घ)	स्पर्श-लोप			घोष-अघोष			यथावत्			योग
	जे	त	हे को	जे	त	हे को	जे	त	हे को	
ख	१	१	१	०	०	०	०	०	०	१
घ	०	०	०	०	०	०	१	१	१	१
घ	२	३	३०	२८	२७	०	०	०	०	३०
घ	२	३	४	०	०	०	३६	३५	३४	३८
फ	०	०	०	०	०	०	१	१	१	१
भ	०	०	४	०	०	०	३६	३६	३२	३६
योग	५	७	३९	२८	२७	०	७४	७३	६८	१०७

अल्पप्राण और महाप्राण दोनों का योग

८९, १२०, ३७५, ३७७ | १४४, १०७, ७१, ७१ | ५५४, ५६०, ३४१, ३३९ | ७८७

(घ) विश्लेषण:—विभिन्न प्रतों और संस्करणों के अनुसार

	जे	त	हे	को
(i) लोप				
अ० प्रा०	८४, १२३%	११३, १६१%	३३६, ५०%	३३७, ५०%
म० प्रा०	५, ५%	७, ७%	३९, ३६%	४०, ३६%
योग	८९, ११३%	१२०, १५%	३७५, ४८%	३७७, ४८%
(ii) यथावत्				
अ० प्रा०	४९०, ७२%	४८५, ७०%	२७३, ४०%	२७२, ४०%
म० प्रा०	७४, ७०%	७३, ७०%	५८, ५३%	५७, ५३%
योग	५६४, ७०%	५६०, ७१%	३३१, ४३%	३३९, ४३%
(iii) घोष-अघोष				
अ० प्रा०	१०६, १६%	८०, १२%	७१, १०३%	७१, १०३%
म० प्रा०	२८, २६%	२७, २५%	०, ०%	०, ०%
योग	१३४, १८%	१०७, १४%	७१, ९%	७१, ९%

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि त्रि० आ० भा० में लगभग ११% हा लोप प्राप्त होता है और यथावत् स्थिति ७०% है। छठीं शताब्दी की कृति में यह कैसे हो सकता है ? इस अवस्था के लिए ऐसा माना जाता है कि उस काल में बढ़ते हुए संस्कृत के प्रभाव के कारण प्राकृत रचनाओं में तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक मात्रा में होने लगा था। जो कुछ भी हो एक बात स्पष्ट है कि नामिक विभक्तियों और क्रिया-रूपों में 'त' का प्रयोग अधिक प्रमाण में मिलता है—क० भू० कृ० 'त', प० ए० व० 'तो', व० का०, तृ० पु०, ए० व० 'ति', और मध्यवर्ती 'त' के कुल १९८ प्रसंगों में से मात्र एक स्थल पर 'त' का 'द' (दीसदि-५३) और लोप मात्र १३ स्थलों पर मिलता है जबकि 'त' की यथावत् स्थिति १८४ स्थलों पर उपलब्ध है। इस अवस्था का कारण यह हो सकता है कि रचयिता को भाषा का यही स्वरूप उस समय मान्य था। एक अन्य 'त' प्रत जो उपलब्ध है उसमें लोप १५% मिलता है और यथावत् स्थिति तो ७०% ही है। इनके साथ जब 'हे' एवं 'को' संस्करणों की तुलना करते हैं तो उनमें लोप ४८% और यथावत् स्थिति ४३% रहती है। घोषीकरण का प्रमाण क्रमशः घटता जाता है, —'जे' में १८३, 'त' में १४ तो 'हे' और 'को' में मात्र ९ प्रतिशत ही रह जाता है। इससे स्पष्ट साबित होता है कि ग्रन्थ के मूल प्राकृत शब्दों में काल की गति के साथ चालू भाषा के प्रभाव के कारण लेहियों और पाठकों के हाथ प्रमादवश ध्वन्यात्मक परिवर्तन बढ़ता ही गया है। इस दृष्टि से त्रि०आ०भा० का यह विश्लेषण बहुत ही उपयोगी है। इसके आधार से हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि यदि त्रि०आ०भा० की भाषा में कुछ शताब्दियों के पश्चात् इतना परिवर्तन आ सकता है तो फिर आगम-ग्रन्थों की मूल अर्धमागधी में एक हजार और पन्द्रह सौ वर्षों के बाद

कितना परिवर्तन आया होगा इसका अन्दाज सरलता से लगाया जा सकता है ।

भाषा सम्बन्धी इस परिवर्तन के दो कारण रहे हैं—एक तो समकालीन भाषा का परिवर्तित रूप और द्वितीय व्याकरणकारों द्वारा प्रस्तुत किये गये भाषा सम्बन्धी नियम । प्राकृत भाषा के वैयाकरणों ने यदि ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से हरेक भाषा का स्वरूप निरूपित किया होता तो शायद यह परिस्थिति उपस्थित नहीं होती । प्राकृत के व्याकरणों में आर्ष अर्धमागधी के कुछ उदाहरण तो अवश्य दिये गये हैं परन्तु मध्यवर्ती व्यंजनों का लोप (कुछ व्यंजनों के घोषीकरण के सिवाय) सर्वव्यापी सभी प्राकृत भाषाओं पर लागू हो जाता हो ऐसा फलित होता है; जबकि प्राचीन प्राकृत भाषाओं—मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी आदि में इस प्रकार का लोप होना ऐतिहासिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं लगता है । बड़े पैमाने पर मध्यवर्ती व्यंजनों का लोप महाराष्ट्री प्राकृत में ही हुआ है और इस भाषा का काल ई० सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों का माना जाता है । अनेक प्राचीन शिलालेखों में उत्कीर्ण भाषा के स्वरूप पर विचार करें तब भी यही फलित होता है । उदाहरण के तौर पर भ. महावीर के ८४ वर्ष बाद में बडली (अजमेर, राज०) में उपलब्ध शिलालेख में मध्यवर्ती व्यंजनों का लोप नहीं मिलता, नामिक विभक्ति—‘ते’ और ‘ये’ के, स्थान पर ‘ए’ नहीं है । अशोक के शिलालेखों में ध्वनि-विकार का प्रारम्भ हो जाता है । घोषीकरण, अघोषीकरण एवं लोप का कुल प्रमाण ५ से ६ प्रतिशत ही है । मौर्यकालीन अन्य शिलालेखों में भी यही स्थिति है । खारवेल के शिलालेख में घोषीकरण बढ गया है । आठ में से छः बार ‘थ’ का ‘ध’ मिलता है हालाँकि वर्ण-विकार तो ५ से ६ प्रतिशत ही मिलता है । विभिन्न प्राचीन उत्कीर्ण लेखों से पता चलता है कि मध्यवर्ती व्यंजनों के लोप की प्रवृत्ति का प्रचलन उत्तर-पश्चिम और पश्चिम

भारत में सबसे पहले हुआ था। इतना ही नहीं परन्तु मध्यवर्ती 'न' का 'ण' में परिवर्तन होना भी दक्षिण भारत की अन्य क्षेत्रों को देन है। उत्तर-पश्चिम भारत में प्राप्त ई० सन् प्रथम शताब्दी के तीन लेखों (पंजतर, कलवान और तक्षशिला, डी.सी. सरकार संस्करण, नं० ३२, ३३, ३४) की भाषा के विश्लेषण से यह साबित होता है कि उन लेखों की भाषा में लोप ३० प्रतिशत, यथावत् स्थिति ५३ प्रतिशत और घोष-अघोष १७ प्रतिशत मिलता (कुल लोप २७, यथावत् ४७, घोष १३ और अघोष २=८९ प्रसंग) है। इनमें प्रारम्भिक 'न' का 'ण' में परिवर्तन १०० प्रतिशत है और मध्यवर्ती 'न' का 'ण' ७५ प्रतिशत मिलता है। पश्चिम भारत में नासिक, कोणहेरी और जुनर के शिलालेखों में भी लोप एवं घोषीकरण की प्रवृत्ति अधिक मिलती है। 'न' का 'ण' में परिवर्तन भी अधिक मात्रा में उपलब्ध हो रहा है।

इस ध्वन्यात्मक परिवर्तन की दृष्टि से 'इसिभासियाइं' की भाषा का विश्लेषणात्मक अध्ययन भी महत्त्वपूर्ण है। यह भी एक प्राचीन अर्धमागधी आगम-कृति मानी जाती है। शुब्रिग महोदय द्वारा संपादित संस्करण में अध्याय नं. १, २, ३, ५, ११, २९ और ३१ में मध्यवर्ती व्यञ्जनों का लोप ११ प्रतिशत से ३० प्रतिशत के बीच है, यथावत् स्थिति ४५ से ८१ प्रतिशत है। इन सातों अध्ययनों का औसत है—लोप २७½ प्रतिशत, यथावत् ६०½ प्रतिशत तथा घोष-अघोष १२ प्रतिशत। इसका संपादन मात्र दो प्रतों के आधार से किया गया है। पाठान्तरों की बहुलता नहीं है जो हमें अर्धमागधी आगम ग्रन्थों के विभिन्न संस्करणों और उनकी प्रतियों में मिलती है। 'इसिभासियाइं' के अल्प प्रचलन के कारण इस ग्रन्थ की भाषा का पीढ़ी दर पीढ़ी विभिन्न हाथों से कायाकल्प न हो सका। यदि इसकी भी अनेक प्रतियाँ विभिन्न कालों में बनती गयी होती तो इसकी भी वही दशा होती जो अन्य प्राचीन आगम ग्रन्थों की हुई है। एक और विशेषता ध्यान देने योग्य यह है कि इस संस्करण में

शुब्रिग महोदय द्वारा मध्यवर्ती 'त' का आचारांग की तरह सर्वथा लोप नहीं किया गया है परन्तु अलग-अलग अध्ययनों में अलग-अलग प्रमाण में मिलता है। लोप और यथावत् स्थिति क्रमशः इस प्रकार उपलब्ध हो रही है— अध्याय १-३२।६८, २-०।१००, ३-१५।८५, ५-२८।७२, ११-२७।७३, २९-४८।५२ एवं ३१-२।७९। इस स्थिति के आधार से श्री शुब्रिग महोदय द्वारा सम्पादित आचारांग में उपलब्ध मध्यवर्ती व्यंजनों का ५८ प्रतिशत लोप किस तरह स्वीकारा जा सकता है। उनके द्वारा प्रयुक्त ताडपत्रांय प्रत ( संवत् १३४८ ) में ही व०का०, तृ०पु०, ए० व० के प्रत्यय 'ति' का प्रयोग ५० प्रतिशत और उसी प्रकार 'इ' का प्रयोग ५० प्रतिशत ( प्रथम अध्ययन के विश्लेषण के अनुसार ) है। उन्होंने पाठान्तरों में 'ति' नहीं दिया है और सर्वत्र 'इ' को ही अपनाया है। श्री महावीर जैन विद्यालय द्वारा प्रकाशित आचारांग में मध्यवर्ती व्यंजनों का लोप २४ प्रतिशत है परन्तु पाठान्तरों के आधार से ही ऐसे पाठ स्वीकार किये जाने योग्य हैं जिनमें मध्यवर्ती वर्णलोप नहीं है।

इस सूक्ष्म अध्ययन से ऐसे निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि (अर्ध-मागधी जैसी प्राचीन भाषा के प्राचीन ग्रन्थों की भाषा भी प्राचीन ही होनी चाहिए। कालान्तर में हस्तप्रतों में जो विकार जाने-अनजाने प्रमादवश आगये हैं वे सब त्याज्य माने जाने चाहिए। मूल ग्रन्थ की हस्तप्रतों, चूर्णि-ग्रन्थ या टीका जो भी हो जिस किसी में भी यदि भाषिक दृष्टि से प्राचीन शब्द मिलते हो और अर्थ की संवादिता सुरक्षित रहती हो तो उन्हीं पाठों को स्वीकार किया जाना चाहिये। अर्धमागधी के प्राचीन आगम-ग्रन्थों के सम्पादकों के लिए इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो रहा है कि किसी भी प्राचीन ग्रन्थ की विभिन्न कालों में जितनी अधिक प्रतिलिपियाँ उतरती गयीं उतने ही प्रमाण में उस ग्रन्थ की भाषा के मूल स्वरूप में परिवर्तन भी आता गया।

# विशेषावश्यकभाष्य की गाथा नं० १ से १०० के कतिपय प्रारंभिक शब्द

१०२

अ. अ. अ. अ.

ग्रन्थ-प्रकाशन	(1966 AD; 19६6 AD. 1936 AD. 1914 AD.	लामाग दसवीं	अज्ञात समय
का वर्ष	नया संस्करण)	शती के पूर्वार्ध	की प्रति
		की प्रति	

गाथां नं० संस्कृत	मूलपाठ	स्वोपह टीका	को०	हे०	जे०	त०
४१. अतीतम्	अतीतं	अतीतं	अतीतं	अतीतं	अतीतं	अतीतं
२३. अथवा	अथवा	अथवा	अथवा	अथवा	अथवा	अथवा
५०. अथवा	अथवा	अथवा	अथवा	अथवा	अथवा	अथवा
५१. अथवा	अथवा	अथवा	अथवा	अथवा	अथवा	अथवा
५६. अथवा	अथवा	अथवा	अथवा	अथवा	अथवा	अथवा
७८. अथवा	अथवा	अथवा	अथवा	अथवा	अथवा	अथवा
६५. अनुमतम्	अनुमतं	अनुमतं	अनुमयं	अनुमयं	अनुमतं	अनुमतं
५२. अभिधानम्	अभिघाणं	अभिघाणं	अभिहाणं	अभिहाणं	अभिघाणं	अभिघाणं
५७. अभिधानम्	अभिघाणं	अभिघाणं	अभिहाणं	अभिहाणं	अभिघाणं	अभिघाणं
८२. अवधीयते	अवधीयते	अवधीयते	अवधीयए	अवधीयए	अवधीयते	अवधीयते
२९. आगतः	आगतो	आगतो	आगमओ	आगमओ	आगमतो	आगमतो

७३.	—आदि	—आदि	—आइ	—आइ	—आइ	—आदि	—आइ	—आइ	—आदि	—आदि
७५.	—आदि—	—आदि—	—आइ—	—आइ—	—आइ—	—आदि—	—आइ—	—आइ—	—आदि—	—आदि—
२१.	इह	इध	इह	इह	इह	इध	इध	इध	इध	इध
५१.	इह	इह	इह	इह	इह	इह	इह	इह	इह	इह
५५.	इह	इह	इह	इह	इह	इह	इह	इह	इह	इह
७७.	ऋजुसूत्रो	उजुसुता	उजुसुता	उजुसुता	उजुसुता	उजुसुता	उजुसुता	उजुसुता	उजुसुता	उजुसुता
५.	कृत	कत	कत	कय	कय	कत	कत	कत	कत	कत
२४.	गालयति	गालयति	गालयति	गालयइ	गालयइ	गालयति	गालयति	गालयति	गालयति	गालयति
३३.	चूतः	चूतो	चूतो	चूओ	चूओ	चूतो	चूतो	चूतो	चूतो	चूतो
३६.	चूतादिभ्यः	चूताईणहितो	चूता०	चूयाईए०	चूयाईए०	चूयातीए०	चूयातीए०	चूयातीए०	चूयातीए०	चूयातीए०
३.	ज्ञान—	णण—	णण—	णण—	णण—	णण—	णण—	णण—	णण—	णण—
३०.	ज्ञानम्	णणं	णणं	णणं	णणं	णणं	णणं	णणं	णणं	णणं
४६.	ज्ञायक	जाणग	जाणग	जाणय	जाणय	जाणग	जाणग	जाणग	जाणग	जाणग
८१.	ततः	ततो	ततो	तओ	तओ	ततो	ततो	ततो	ततो	ततो
१९.	त्रिधा	तिधा	तिधा	तिहा	तिहा	तिधा	तिधा	तिधा	तिधा	तिधा
२८.	द्वति	द्वते	द्वते	दवए	दवए	दवते	दवते	दवते	दवते	दवते
२८.	द्व्यते	द्व्यति	द्व्यति	द्वयए	द्वयए	द्व्यति	द्व्यति	द्व्यति	द्व्यति	द्व्यति
८८.	नमस्कारः	णमोक्कारो	णमोक्कारो	नमोक्कारो	नमोक्कारो	णमोक्कारो	णमोक्कारो	णमोक्कारो	णमोक्कारो	णमोक्कारो



भाषा० संस्कृत नये संस्करण स्वी०टी० को० हे० जे० त०

नं०	का पाठ	निवातणतो	निवातणतो	निवातणतो	निवातणतो	निवातणतो
२३.	निपातात्	गिवातणतो	निवातणतो	निवातणतो	निवातणतो	निवातणतो
२७.	(अभि)निबुध्यते	अभिणिबुञ्चति	अभिनिबुञ्चइ	अभिणिबुञ्चइ	अभिणिबुञ्चति	अभिणिबुञ्चति
५८.	(परि)निवृत्त	परिणिवृत्त	परिनिवृत्त	परिनिवृत्त	परिनिवृत्त	परिनिवृत्त
४७.	भूत्	भूत्	भूय	भूय	भूत्	भूत्
२२.	मूढयते	मंगिञ्जते	मंगिञ्जए	मंगिञ्जए	मंगिञ्जते	मंगिञ्जते
८६.	मति	मति	मइ	मइ	मति	मति
५७.	यथा	जघ	जह	जह	जघ	जघ
२०.	यदि	जति	जइ	जइ	जति	जति
३०.	यदि	जति	जइ	जइ	जति	जति
१००.	यदि	जति	जइ	जइ	जति	जति
७२.	विवदन्ति	विवदंति	विवयंति	विवयंति	विवदंति	विवदंति
४९.	श्रुत्	सुत्	सुय	सुय	सुत्	सुत्
९८.	श्रुत्	सुत्	सुय	सुय	सुत्	सुत्
१००.	श्रुत्	सुत्	सुय	सुय	सुत्	सुत्
४०.	सूत्रस्य	सुत्रस्स	सुअस्स	सुअस्स	सुत्रस्स	सुत्रस्स
४३.	हेतुः	हेतू	हेऊ	हेऊ	हेतू	हेतू

ग्रन्थ के 'को' एवं 'हे' संस्करणों में मध्यवर्ती त, थ, द, घ, एवं क के बदले में क्रमशः य, ह, य, ह एवं य वर्ण मिलते हैं। स्पष्ट है कि मध्यवर्ती व्यञ्जनों का लोप अधिक मात्रा में पाया जाता है जैसा कि ऊपर पहले ही बतला दिया गया है। जब तक अन्य प्राचीन ताडपत्रीय प्रतियाँ नहीं मिली थीं तब तक इन संस्करणों को ही प्रमाणित माना जाता था और मध्यवर्ती व्यञ्जन-लोप वाले शब्द ही लेखक की भाषा हो ऐसा समझा जाता रहा परन्तु 'जे' प्रत मिलने से सारा तथ्य ही बदल गया। यह प्रत सबसे प्राचीन है और उसे अधिक प्रामाणिक माना जाता है जिसमें लेखक के ही शब्दों की अपनी वर्ण-व्यवस्था सुरक्षित है। इसमें मध्यवर्ती 'त' की यथावत् स्थिति होने के कारण किसी विद्वान को यह शंका हो कि इसमें भी 'त' श्रुति आ गयी है तो उसका निराकरण इस बात से होता है कि ग्रन्थकार ने जो स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी है उसमें भी मध्यवर्ती 'त' की वही स्थिति है। अतः बाद में 'त' आ गया हो ऐसा कहना उचित नहीं लगता। 'जे' प्रत के शब्दों और स्वोपज्ञवृत्ति के शब्दों की वर्ण व्यवस्था में पर्याप्त समामता है यह ऊपर बतलाया जा चुका है। कोई यदि ऐसा कहे कि स्वोपज्ञ-वृत्ति की प्रत ई० स० १४३४ की है अतः उसमें भी 'त' श्रुति आ गयी होगी। इसके उत्तर में यह भी तो प्रश्न होता है कि तब फिर 'क' के लिए 'ग', 'थ' के लिए 'घ' और 'द' के लिए 'द' का प्रयोग दोनों प्रतों में मिलता है उसका क्या उत्तर होगा। अतः 'त' श्रुति की शंका करना निराधार बन जाता है। लेखक को जो मान्य थी वैसी ही वर्ण-व्यवस्था उन्होंने मध्यवर्ती शब्द-रूपों में अपनायी है। 'को' एवं 'हे' संस्करणों में वर्ण-सम्बन्धी जो परिवर्तन पाया जाता है वह लेहियों और पाठकों द्वारा

बाद में किया गया परिवर्तन है—लोप है—उत्तरकालीन व्याकरणकारों का प्रभाव है, चाङ्ग भाषा का प्रभाव है ऐसा असंदिग्ध रूप से प्रमाणित हो रहा है। मूल भाषा बदली गयी है यह तथ्य दर्पण की तरह स्पष्ट हो रहा है। यह तो पाँचवीं—छठी शताब्दी में रचे गये एक ग्रन्थ की कहानी है तब फिर प्राचीन आगम—ग्रन्थों की अर्धमागधी भाषा के साथ १५०० वर्षों में कितना क्या कुछ नहीं हुआ होगा यह उपलब्ध हो रहे विभिन्न पाठान्तरों के द्वारा सरलता से जाना जा सकता है। उनके साथ भी ऐसा ही हुआ है और अभी तक के संस्करणों में मध्यवर्ती व्यञ्जनों के लोप को जो महत्त्व दिया है वह उपयुक्त नहीं है और भाषा की एकरूपता के नाम से (ध्वनिपरिवर्तन की दृष्टि से मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यञ्जनों का लोप और महाप्राण व्यञ्जनों का 'ह' में परिवर्तन) एक कृत्रिम सिद्धांत खड़ा किया गया है इसलिए वह अनुपयुक्त बन जाता है। अतः अभी तक अर्धमागधी प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन में जो पद्धति अपनायी गयी है वह उचित है या उसे बदलने—सुधारने की आवश्यकता है इस विषय पर प्राकृत और अर्धमागधी के अनुभवी विद्वान और संपादक पुनः विचार करे यही निवेदन है।

## अक्षरों की प्राचीन लेखन पद्धति और नकार में णकार के भ्रम की संभावना

(अध्याय नं. ७ और ८ से सम्बन्धित नयीं सामग्री)

दीर्घ काल के अनुभवी और विद्वान लिपिकार श्री लक्ष्मणभाई भोजक (लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद) ने ऐसा बतलाया है कि प्राचीन काल में दन्त्य नकार रोमन लिपि के उलटे टी के आकार में ┆ लिखा जाता था और णकार में इस उलटे टी के ऊपर सीधे टी की तरह रेखा ┆ खींची जाती थी। परन्तु चौथी शताब्दी यानि गुप्तकाल से सभी अक्षरों पर शिरोरेखा खींची जाने लगी। इस नयी पद्धति के कारण नकार में णकार का भ्रम होना प्रारम्भ हो गया होगा ऐसी संभावना अनुचित नहीं है।

बोलचाल की भाषा में भी अमुक प्रमाण में नकार के बदले में णकार बोला जाने लगा और यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी जिसके प्रमाण शिलालेखों में मिलते हैं। यह महाराष्ट्री प्राकृत का काल था अतः इन दोनों कारणों से महाराष्ट्री प्राकृत के लिए नियम बन गया कि नकार का णकार में परिवर्तन हो जाता है।

महाराष्ट्री प्राकृत का यह नियम पूर्वी भारत की अर्धमागधी जैसी प्राचीन भाषा के लिए कैसे उपयुक्त हो सकता है। पालि भाषा में नकार का णकार नहीं होता है। अशोक और खारवेल के शिलालेखों में भी यह प्रवृत्ति नहीं है ऐसी हालत में अर्धमागधी भाषा में तो नकार यथावत् ही रहना चाहिए। अर्धमागधी भाषा में नकार के बदले में णकार आया है वह अक्षरों की लेखन पद्धति और महाराष्ट्री प्राकृत के नियम का प्रभाव है क्योंकि अर्धमागधी का अपना स्वतंत्र व्याकरण ही नहीं था।

## पूर्व प्रकाशित इस ग्रन्थ के अध्यायों के संदर्भ

इस ग्रन्थ के जो अध्याय संशोधन लेखों के रूप में पहले ही प्रकाशित हो चुके हैं वे इस प्रकार हैं। किसी किसी लेख के शीर्षक की अपेक्षा इस ग्रन्थ के अध्याय के शीर्षक में अल्पाधिक प्रमाण में परिवर्तन भी किया गया है।

इस ग्रन्थका अध्याय

प्रकाशित

- |   |  |
|---|--|
| 1 | श्रमण, पा. वि. शोध संस्थान, वाराणसी<br>जनवरी-मार्च 1991                              |
| 2 | तुलसी प्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनूँ<br>अक्टूबर-दिसम्बर, 1992                      |
| 3 | तुलसी प्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनूँ<br>सितम्बर, 1990                              |
| 4 | तुलसी प्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनूँ<br>मार्च, 1991                                |
| 5 | संबोधि, ला. द. भा. सं. विद्या मन्दिर,<br>अहमदाबाद, 1992                              |
| 6 | प्राकृत विद्या, प्राकृत विद्या अध्ययन प्रसार केन्द्र,<br>उदयपुर, जुलाई-दिसम्बर, 1990 |
| 7 | प्राकृत विद्या, प्राकृत विद्या अध्ययन प्रसार केन्द्र,<br>उदयपुर, जुलाई-सितम्बर, 1989 |
| 8 | प्राकृत विद्या, प्राकृत विद्या अध्ययन प्रसार केन्द्र,<br>उदयपुर, अप्रैल-जून, 1990    |
| 9 | प्राकृत विद्या, प्राकृत विद्या अध्ययन प्रसार केन्द्र,<br>उदयपुर, जनवरी-मार्च, 1991   |

- 10 प्राकृत विद्या, प्राकृत विद्या अध्ययन प्रसार केन्द्र,  
उदयपुर, अप्रेल-सितम्बर, 1992
- 11 तुलसी प्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनूँ,  
जुलाई-सितम्बर, 1991
- 15 जैन विद्याके आयाम, प्र'थांक 1, लाला हरजसराय  
स्मृति ग्रंथ, पा.वि. शोध संस्थान-बनारस, 1987

### संदर्भ ग्रन्थ

- आचाराङ्गचूणि : ऋषभदास केसरीमलजी, रतलाम 1941
- आचाराङ्ग सूत्र : महावीर जैन विद्यालय, बम्बई
- इसिभासियाई (ऋषिभाषितानि) : शुब्रिंग, ला. द. भा. संस्कृति विद्या  
मन्दिर, अहमदाबाद, 1974
- उत्तराध्ययन सूत्र : (1) महावीर जैन विद्यालय, बम्बई  
(11) जे. शार्पेण्टियर, अजय बुक सर्विस, न्यु  
देहली, 1980
- उवएसमाला : धर्मदासगणि
- कल्पसूत्र : मुनि पुण्यविजयजी, साराभाई मणिलाल नवाब,  
अहमदाबाद, 1952
- गाथासप्तशती : स. आ. जोगलेकर, प्रसाद प्रकाशन,  
पुणे, 1956
- पउमचरिथं : त्रिमलसूरि : प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद
- पण्णवणासूत्र (प्रज्ञापनासूत्र) : महावीर जैन विद्यालय, बम्बई
- प्रबचनसार : संपा. ए. एन. उपाध्ये
- प्राकृत प्रकाशः वररुचिः E B. Cowell, Calcutta, 1962
- प्राकृत व्याकरण : हेमचन्द्राचार्य, P. L. Vaidya 1928
- बृहत्कल्पसूत्र : आ. श्री. घासीलालजी संस्करण

विशेषावश्यक भाष्य : पं. दलसुखभाई मालवणिया, ला. द. भा.  
सां. विद्यामन्दिर, अहमदाबाद, 1966

व्यवहारसूत्र (व्यवहारसूत्र) :

वसुदेवहिंडी, प्रथम खंड, 1930 और 1931

षट्खंडागम

सूत्रकृताङ्ग : महावीर जैन विद्यालय, बम्बई

सेतुबन्धम् : पं. शिवदत्त, निर्णय सागर प्रेस  
बम्बई, 1935

स्वप्नवासवदत्तम् : भासनाटकचक्रम्, सी. आर. देवधर संस्करण  
Asoka Text and Glossary, A. C. Woolner, Oxford University,  
Calcutta, 1924  
Comparative Grammar of the  
Prakrit Languages, R. Pischel,  
Motilal Banarasidas, Varanasi,  
1965  
Historical Grammar of Insriptional  
Prakrits, M. A. Mehendale,  
Poona, 1948  
Kleine Schriften, Ludwig Alsdorf  
Wiesbaden. 1974  
Pali Literature and Language, W.  
Geiger, (B. Ghosh) 1968  
The Prakrit Grammarians, L. Nitti  
Dolci, Motilal Banarasidas,  
Banaras 1972  
Select Inscriptions, Vol I, D. C.  
Sircar

## शुद्धि-पत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	७	स्वीकार्थ	स्वीकार्य
११	१८	एसे	ऐसे
१३	७	हा	ही
१५	२१	आचाराङ्ग	आचाराङ्ग
३१	११	[टिप्पण नं. ४ में जोड़िये] जिसका शीर्षक बदल गया है।	अध्याय नं. १५
३५	१०	आगे पृ. ४५ और	निकाल दीजिए
३६	१४	की	कि
४२	२०	सम्पादम	सम्पादन
४३	४	परमेष्ठि	परमेष्ठी
६१	२	मल	मेल
७२	२२	घली	घौली
७७	२३	अवन्नवश्चले	आवन्नवश्चले
७८	२	(४ 4.28 <sup>5</sup> )	(४.4 285)
८६	१८	और यह	और उपरोक्त यह
९७	१९	पुं. नपुं.	नपुं.
११२	१९	एण	एणं
११९	१०	ओपपातिकसूत्र	औपपातिकसूत्र



## प्रा. जै. वि. वि. फंड के प्रकाशन

- 1 भारतीय भाषाओं के विकास और साहित्य की समृद्धि में श्रमणों का महत्त्वपूर्ण योगदान, के. आर. चन्द्र, 1979 रु 10-00
- 2 प्राकृत—हिन्दी कोश, के. आर. चन्द्र, 1987 रु. 120-00  
(पाइयसदमहण्णवो की किञ्चित् परिवर्तित आवृत्ति)
- 3 English Translation of Kouhala's  
Lilavai-Kahā, Prof. S.T. Nimkar, 1988 Rs. 30-00
- 4 नम्मयासुंदरी कहा (श्री महेन्द्रसूरीकृत). हिन्दी अनुवाद सहित,  
के. आर. चन्द्र, 1989 रु. 40-00
- 5 आरामशोभा रासमाला (गुजराती), प्रो. जयंत कोठारी  
1989 रु. 90-00
- 6 जैनागम स्वाध्याय, पं. दलसुखभाई मालवणिया (गुजराती)  
1991 रु. 100-00
- 7 जैनधर्म चिंतन, पं. दलसुखभाई मालवणिया (गुजराती)  
1991 रु. 40-00
- 8 जैन आगम साहित्य (Seminar on Jaina Āgama)  
सम्पादक, के. आर. चन्द्र, 1992 रु. 100-00
- 9 प्राचीन अर्धमागधी की खोज में, के. आर. चन्द्र  
1991-92 रु. 32-00
- 10 Restoration of the Original Language of  
Ardhamāgadhī Texts : K. R. Chandra,  
1994 Rs. 60-00
- 11 परम्परागत प्राकृत व्याकरण की समीक्षा और अर्धमागधी  
के. आर. चन्द्र (१९९०)
- 12 भाषिक दृष्टि से आचाराङ्ग के प्रथम अध्ययन का नमूने  
के रूप में सम्पादन चाहू : के. आर. चन्द्र

## Directions of Rehabilitating Ardhamāgadhī

Dr. Chandra has advanced in the book enough evidence to show that the original language of the Śvetāmbara Āgamas has suffered numerous alterations under the impact of later influential literary Śaurasenī especially literary Mahārāṣṭrī Prakrit. Some glimpses of a number of original features of Ardhamāgadhī, we can get from a few earlier Canonical texts and from some preserved archaic variant readings. Chandra ends with a plea to accept those readings as genuine original features and revise the relevant text-portions of edited Āgamic works on that basis.

One of the weighty implication of Chandra's findings is quite evidently the fact that they explode the contentions of those critics of the Ardhamāgadhī Canon according to whom the whole of the latter is unauthentic and secondary, Chandra's present investigations supplement and corroborate what other scholars and himself have found from the linguistic, formal, stylistic, and content-based features that are shared by the Aśokan and Pāli on the one hand and Canonical Ardhamāgadhī on the other.

Dr. Chandra's work necessitates revising prevalent view about the original Ardhamāgadhī and invites fresh efforts to determine its real linguistic character.

**Dr. H. C. Bhayani**